भारत में मुद्रा और बैंकिंग का विकास

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—८०

भारत में
मुद्रा और बैंकिंग का विकास

लेखक
डा० अवधविहारी मिश्र
एम० ए०, पी-एच० डी०, डा० लिट्
अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रकाशकीय

इस पुस्तक के लेखक डाक्टर अवध बिहारी मिश्र गोरखपुर विश्व-विद्यालय मे वाणिज्यविभाग के अध्यक्ष है। आपने अपने विस्तृत अनुभव एव गभीर अध्ययन के आधार पर इसकी रचना की है। भारत मे मुद्रा-नीति के विकास और समय समय पर उसमे किये गये परिवर्तनो तथा सुधारो का एव पत्र-मुद्रा के प्रचलन, सुवर्ण-मान के परित्याग आदि महत्व-पूर्ण प्रश्नो का विवेचन इसमे बडी सरल भाषा मे किया गया है। इसमे यह भी दिखलाया गया है कि भारत मे आधुनिक ढग के बैको की स्थापना का आरभ किस तरह हुआ और अनेक सकटो को झेलते हुए भी किस तरह उनकी क्रमिक उन्नति होती गयी। रिजर्व बैक की स्थापना और अनुसूचित बैको पर उसके नियत्रण के परिणाम स्वरूप आजकी सुधरी हुई स्थिति की चर्चा करते हुए अन्त मे आपने यह मत व्यक्त किया है कि यहाँ के प्रमुख बैको को विदेशा मे भी अधिकाधिक सख्या मे अपनी शाखाए खोलनी चाहिए, जिससे भारत के विदेशी व्यापार की सवृद्धि मे वे समुचित रूप से हिस्सा बटा सके।

हमे आशा है कि भारत मे मुद्रा और बैंकिंग के विकास मे दिलचस्पी लेने वाले प्रत्येक हिन्दी प्रेमी को इस छोटी सी पुस्तक से यथेष्ट जानकारी प्राप्त हो जायगी और आगे चल कर यदि वह इस विषय का विशिष्ट अध्ययन करना चाहे तो इससे उसे पर्याप्त सहायता मिल सकेगी।

ठाकुरप्रसाद सिंह

सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

आलेख

मुद्रा और बैंकिग का इतिहास उतना पुराना है जितना समाज और सभ्यता का। सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी आवश्यकताओ मे वृद्धि होती गयी और उपभोग की जाने वाली वस्तुओ के मूल्यो मे तथा उनके आदान-प्रदान के माप मे कठिनाइयाँ आने लगी। व्यापार की मात्रा बढने पर आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की समुचित व्यवस्था आवश्यक हो गयी। इन्ही कठिनाइयो को दूर करने के लिए विभिन्न देशो ने कई प्रकार की मुद्रा-प्रणालियाँ अपनायी, परन्तु सभी प्रकार की मुद्राएँ सोने के मूल्य पर आधारित थी और सोना ही अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का माध्यम था।

उद्योगीकरण के उपरान्त बहुत बडी मात्रा मे वस्तुओ का निर्माण आरम्भ हुआ और कच्चा तथा तैयार किया हुआ माल एक देश से दूसरे देश भेजा जाने लगा। इसके लिए मुद्रा के सचय और ऋण की आवश्यकता हुई। बैंकिग का इतिहास उन सभी कार्यो का लेखा हे जो मुद्रा के बडी मात्रा मे सचय और ऋण की व्यवस्था के लिए अपनाये गये। उत्पादन और उपभोग की विभिन्न क्रियाओ मे बैकिग प्रणाली बहुत सहायक सिद्ध हुई और धीरे-धीरे मुद्रा के आदान-प्रदान मे बैकिग एक आवश्यक अंग बन गया और हमारे दैनिक जीवन की सभी आर्थिक क्रियाओ मे बैंकिग प्रणाली का प्रयोग होने लगा।

देश की आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो का मुद्रा और बैंकिग के विकास पर बहुत गहरा प्रभाव पडा है। आर्थिक उन्नति के साथ बैंकिंग का विकास भी सम्बद्ध है और डॉवाडोल राजनीतिक अवस्था मुद्रा और बैंकिग के विस्तार के लिए घातक सिद्ध हुई है। भारत की वर्तमान मुद्रा और बैकिग प्रणाली अग्रेजी राज्य के फलस्वरूप प्राप्त हुई और भारतीय मुद्रा 'रुपया' इसी समय से सारे देश की मुद्रा बन गया। देश मे शान्ति

और आर्थिक उन्नति के अनुरूप मुद्रा और बैंकिंग का विकास होता गया।

इस पुस्तक का ढग इस विषय पर लिखी अन्य पुस्तको से कुछ भिन्न है। इसमे भारतीय मुद्रा और बैंकिंग के विकास का इतिहास समय-समय पर हुई देश की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियो के अनुसार दिया गया है। मुद्रा के मान को स्थायी रखने के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नो तथा उनके प्रभावो को भी क्रमबद्ध कर दिया गया है। आशा है, पाठक इसके द्वारा भारतीय मुद्रा और बैंकिग के विकास पर पडे विभिन्न प्रभावो से भी अवगत हो सकेंगे।

अवधविहारी मिश्र

अध्याय १

मुद्रा का विकास

प्राचीन काल मे हम अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति वस्तुओ के आदान-प्रदान द्वारा करते थे। किंतु अपनी-अपनी वस्तुओ के पारस्परिक विनिमय से मूल्याकन मे बडी कठिनाई होती थी। समाज और सभ्यता के विकास के साथ-साथ आवश्यकताओ की वृद्धि हुई, जिससे यह कठिनाई और बढ गयी। ऐसी स्थिति मे वस्तु-विनिमय द्वारा प्रति दिन की रहन-सहन मे बडी असुविधा होने लगी। साथ-ही-साथ सर्वमान्य मूल्यमापक साधन का अभाव होने के कारण विनिमय-कर्ताओ को यह सदेह रहता था कि उनको अपनी वस्तु के विनिमय से प्राप्त दूसरी वस्तु कम मूल्य की होती है। इन कठिनाइयो से समाज के आर्थिक विकास का क्षेत्र सदा सीमित और सकुचित रहता था और किसी भी वस्तु का आदान-प्रदान बडे पैमाने पर अथवा दूर के स्थानो से नही हो पाता था।

इन दोषो को दूर करने के लिए आवश्यक समझा गया कि प्रयोग मे आने वाली समस्त वस्तुओ के मूल्याकन का एक ही मापदण्ड होना चाहिए। अत विभिन्न देशो ने इस मापदण्ड के अलग-अलग ढग अपनाये। जो वस्तु आसानी से मूल्याकन के लिए उपयुक्त मानी गयी उसका ही मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया गया। कई वस्तुओ का मुद्रा के रूप मे प्रयोग होने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धातुमुद्रा ही सर्वमान्य होती है, क्योंकि किसी वस्तु का मुद्रा के रूप मे प्रयोग करने के लिए उसमे (१) उपयोगिता, (२) टिकाऊपन, (३) वहनीयता, (४) विभाजकता तथा (५) समानता के गुणो का होना आवश्यक है। अर्थात् मुद्रा के रूप मे प्रयोग की जाने वाली वस्तु की स्वत उपयोगिता भी होनी चाहिए और वह स्वय मूल्यवान् हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति उसे आसानी से स्वीकार

कर ले। मुद्रा मे टिकाऊपन का गुण भी बहुत आवश्यक है ताकि उसका सचय किया जा सके और वह शीघ्र नष्ट न हो। मुद्रा थोडी अथवा अधिक मात्रा मे एक स्थान से दूसरे स्थान तक आसानी से जा सकने वाली होनी चाहिए जिससे वाणिज्य तथा व्यापार मे असुविधा न हो। साथ ही साथ मुद्रा को छोटे-छोटे टुकडो मे बाटा भी जा सके जिससे उसके द्वारा कम मात्रा मे भी वस्तु प्राप्त की जा सके।

भारत मे मुद्रा व्यवहार के विकास की गति मन्थर रही। इस पर कई प्रकार की सस्थाओ का असर पडा। हमारी मुद्रा-प्रणाली मे देशी और विदेशी ढगो का विलक्षण समन्वय पाया जाता है। अँग्रेजी राज्य के फलस्वरूप हमारी मुद्रा-प्रणाली मे कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के पहले सोने और चाँदी की मुद्राओ का स्वतन्त्र रूप मे चलन था। १८वी शताब्दी के अन्त तक देश के विभिन्न भागो मे कई प्रकार की सोने और चाँदी की मुद्राएँ पायी जाती थी। प्रत्येक राज्य की अपनी अलग मुद्रा-प्रणाली होती थी। इस ढग मे बडी कठिनाई होती थी। अग्रेजी राज्य आने पर १८३५ मे एक कानून द्वारा चाँदी की मुद्रा ही समस्त देश की मुद्रा घोषित कर दी गयी। यह रजत-मुद्रा पूर्ण रूप से प्रामाणिक मुद्रा थी।

उद्योग और व्यापार मे उत्तरोत्तर उन्नति के फलस्वरूप अधिक मात्रा मे मुद्रा का आदान-प्रदान आवश्यक हो गया। ऐसी परिस्थिति मे, देश मे साकेतिक तथा पत्र-मुद्रा का चलन प्रारम्भ हुआ। साकेतिक मुद्रा निम्न कोटि की धातुओ अथवा उनके मिश्रण से तैयार की जाती थी।

मूल्यवान् धातुओ की मुद्रा के चलन मे सबसे बडा अवगुण यह है कि ये मुद्राएँ प्रयोग मे आने पर घिस जाया करती है और इनका भार कम हो जाता है। अत लोग नयी मुद्रा को अधिक प्रधानता देते है और घिसी मुद्रा को उपेक्षा की दृष्टि से देखते है। इग्लैन्ड मे जब अधिक मात्रा मे नयी मुद्राएँ बनने के बाद भी पुरानी घिसी हुई मुद्राएँ चलती रही तो सर टामस ग्रेशम ने मुद्रा का यह नियम प्रतिपादित किया कि घिसी हुई खराब मुद्रा अच्छी नयी मुद्रा को चलन मे आने से रोकती है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति

नयी मुद्रा को सचय के लिए लेना चाहता है और पुरानी मुद्रा देना चाहता है। यह कमी दूर करने के लिए साकेतिक मुद्रा का प्रारम्भ हुआ।

साकेतिक मुद्रा निम्न कोटि की धातुओ अथवा उनके मिश्रण से तैयार की जाने लगी। इस पर अकित मूल्य इसकी धातु के मूल्य से कही अधिक होता था और सरकारी कानून द्वारा यह सर्वमान्य होती थी। हमारी वर्तमान धातु-मुद्राएँ इसी प्रकार की साकेतिक मुद्राएँ है।

पत्र-मुद्रा का चलन बडे-बडे भुगतानो को करने के लिए प्रयोग मे आया। देश मे बैको के विस्तार के फलस्वरूप पत्र-मुद्रा का चलन व्यापक हो गया। पत्र-मुद्रा का मूल्य उस पत्र पर छपे हुए मूल्य के बराबर माना जाता है और वह उस धातु की मात्रा का प्रतीक होता है जो उस पत्र-मुद्रा के बदले मे प्राप्त की जा सकती है। यदि किसी पत्र-मुद्रा पर दस रुपये लिखा हो तो इसका अभिप्राय यह होता है कि उस पत्र-मुद्रा के देने से दस रुपये मूल्य के बराबर की धातु अथवा अन्य वस्तु प्राप्त की जा सकती है। प्रारम्भिक अवस्था मे भारत मे पत्र-मुद्रा का जनता द्वारा स्वागत नही किया गया, परन्तु उसको मान्यता न देने वालो को सरकार द्वारा दण्ड देने का विधान होने के बाद पत्र-मुद्रा सार्वजनिक प्रयोग मे आने लगी। इस प्रकार की मुद्रा भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा सचालित होती है।

सरकार रिजर्व बैंक के द्वारा उपयुक्त मात्रा मे पत्र-मुद्रा छाँपकर व्यापार और वाणिज्य को बढाने मे सहायता देती है। इस पत्र-मुद्रा की मात्रा आवश्यकतानुसार बढा दी जाती है, परन्तु प्रत्येक पत्र-मुद्रा पर छपे हुए मूल्य के बदले सोना या चादी द्वारा भुगतान करना सरकार का उत्तर-दायित्व होता है। इसका यह तात्पर्य नही समझ लेना चाहिए कि जितने मूल्य की पत्र-मुद्रा सरकार छापती है उतने मूल्य का सोना या चादी उसके पास होगा। पत्र-मुद्रा के भुगतान का सरकार पर उत्तरदायित्व जनता मे पत्र-मुद्रा पर विश्वास उत्पन्न करने के लिए होता है और जितनी मात्रा मे नोट छापे जाते है उस मूल्य का केवल एक अश मात्र सरकारी कोष मे

सोना या चाँदी के रूप मे रखा जाता है, क्योकि एक बार मे बहुत कम नोट भुगतान के लिए आ सकते है और पत्र-मुद्रा का बहुत बडा भाग लेन-देन की क्रिया मे लगा रहता है।

इन मुद्राओ के साथ-साथ, उद्योग और व्यापार की उन्नति से, हुण्डी अथवा साख-मुद्रा भी प्रयोग मे आने लगी। साख-मुद्रा को चलाने का श्रेय बैंको को है। बैंको के विकास से उद्योग और व्यापार मे बहुत सहायता मिली है। इग्लैन्ड, अमेरिका जैसे देशो मे द्रव्य सम्बन्धी लेन-देन का ९० प्रतिशत साख-मुद्रा द्वारा ही होता है। साख-मुद्रा मे किसी मूल्य के निर्धारित समय पर भुगतान करने का वचन होता है। जैसे यदि कोई दूकानदार किसी उत्पादक का सामान इस शर्त पर खरीदना चाहे कि उसे बेचने के बाद वह उत्पादक को उसका मूल्य दे देगा, तो इस आशय का जो लिखित पत्र दूकानदार उत्पादक को उसकी वस्तु लेने पर देगा, यह पत्र साख-मुद्रा (Credit money) माना जायगा। इस ढग मे यह आवश्यक है कि साख-मुद्रा देने वाले का विश्वास आर्थिक दृष्टि से साख-मुद्रा पाने वाले पर होना चाहिए। जैसे कोई महाजन किसी को रुपया उधार देने से पहले यह जान लेता है कि उधार लेने वाला उन रुपयो को अवश्य लौटा सकेगा। साख-मुद्रा हुण्डी, आज्ञा-पत्र, (Corder note), प्रतिज्ञा-पत्र, (Promissory note), पुस्तक-साख (Book Credit) तथा चेक इत्यादि के रूप मे प्रचलित है। हुण्डियाँ तथा आज्ञा-पत्र प्राय दूर के स्थानो पर भुगतान के लिए प्रयोग मे आते है। परन्तु प्रतिज्ञा-पत्र वस्तुओ का मूल्य चुकाने अथवा रुपया उधार लेने के रूप मे प्रयोग मे लाये जाते है। प्रतिज्ञा-पत्र मे साक्षी का हस्ताक्षर आवश्यक माना जाता है। साख-पत्र द्वारा यह विनिमय के भुगतान का सबसे सरल ढग है और दिन-प्रति-दिन के छोटे छोटे लेन-देन इसी के द्वारा होते है।

लेन-देन मे बैंक नोट भी प्रयोग मे आते है जो किसा देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किये जाते है।

प्रतिज्ञा-पत्र और बैंक नोट मे केवल यह अन्तर होता है कि प्रतिज्ञा-पत्र पर सूद दिया जाता है और वह व्यक्तिगत होता है एव उसके भुगतान

की माँग निश्चित अवधि पूर्ण होने से पहले नही की जा सकती। बैंक नोट पर सूद नही दिया जाता और किसी भी समय उसके मूल्य की कीमत मुद्रा मे परिणत की जा सकती है। बैंको द्वारा इस सुविधा के फलस्वरूप चेक भुगतान का सामान्य साधन बन गया है। चेक वह लिखित आज्ञा है, जो किसी बैंक मे रुपया जमा करने वाला व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को भुगतान के लिए बैंक के नाम देता हे। चेक लिखने वाला व्यक्ति पूंजी उस बैंक मे जमा कर देता है और समयानुसार चेक द्वारा भुगतान के लिए उस बैंक को लिखित आज्ञा देता है, परन्तु यह आज्ञा उसकी अधिकतम पू जी की सीमा के अन्दर ही होती है। अनधिकारी व्यक्तियो को चेक का रुपया न मिल सके इसकी सुरक्षा के लिए प्राय दो समानान्तर रेखाएँ चेक के आरपार खीच दी जाती है। ऐसी दशा मे उस चेक का रुपया पाने वाले व्यक्ति के हिसाब मे जमा हो जाता है जो बाद मे वह अपने चेक द्वारा निकाल सकता है।

पुस्तक-साख का प्रयोग दिन-प्रति-दिन के भुगतान के कार्यो मे नही होता है। खरीदने वाला बेचने वाले की बही अथवा पुस्तक मे खरीदे हुए सामान का मूल्य लिख देता है जो एक निश्चित समय के बाद बेचने वाला बिल के रूप मे भुगतान के लिए खरीदने वाले के पास भेज देता है और खरीदने वाला उसका भुगतान कर देता है।

साख-मुद्रा (Credit money) की विशेषताएं

साख-मुद्रा से उत्पादन मे बहुत सहायता मिलती है। उपयुक्त धन-राशि न होने पर भी साख-मुद्रा द्वारा उत्पादन के साधन एकत्रित हो सकते हैं और किसी सच्चे तथा मेहनती व्यापारी के लिए मुद्रा की कठिनाई सुलझ जा सकती है। साख-मुद्रा द्वारा बडी मात्रा मे भुगतान सुविधापूर्ण और सुरक्षित होता है। साख-मुद्रा पू जी के बढाने मे भी सहायक होती है। साख-मुद्रा से मूल्यवान् धातुओ का मुद्रा के रूप मे प्रयोग कम हो जाता है और ये धातुएँ नष्ट होने से बच जाती है। बारहवी शताब्दी से भारत मे हुण्डी का प्रचलन माना जाता है। हुण्डी के व्यापक प्रयोग से भारत मे आन्तरिक व्यापार की बहुत वृद्धि हुई। हुण्डी का लेन-देन स्वय ही एक

व्यापार बन गया था। मुगल कालीन भारत मे विभिन्न प्रकार की धातु-मुद्रा के चलन से भारतीय व्यापार को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला जिससे सारे देश मे द्रव्य के लेन-देन के कार्य को यथेष्ट बढावा मिला। यह लेन-देन का काम सामान्यत व्यक्तिगत रूप से ही होता था। इसमे ब्याज की दर सदा परिवर्त्तनशील होती थी और उसकी मात्रा अलग-अलग कार्य करने वालो के द्वारा ही निर्धारित होती थी।

सत्रहवी शताब्दी मे जब पश्चिमी देश वालो ने भारत से व्यापार आरम्भ किया उस समय उन्हे इन महाजनो से बहुत सहायता मिली, लेकिन उनके यहाँ की प्रथा भारतीय ढग से भिन्न थी अत शीघ्र ही उन्हे कई प्रकार की भुगतान सबन्धी कठिनाइयाँ व्यापार मे आने लगी और शीघ्र लेन-देन की सुविधा के लिए उन लोगो ने भारत मे पश्चिमी ढग के बैंक की स्थापना शुरू कर दी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना व्यापार मुख्यत कलकत्ता और बम्बई मे बनाये हुए दो कोषागारो द्वारा चालू कर दिया। इसका भारतीय महाजनी प्रथा पर बहुत बुरा प्रभाव पडा। भारत मे विदेशी व्यापार के विस्तार के साथ कोषागारो की प्रगति भी तेजी से हुई। धीरे-धीरे लगभग सभी बडे-बडे व्यापारिक केन्द्रो मे इनकी शाखाएँ खुल गयी। यातायात तथा रेलो के प्रचार से इनको और प्रोत्साहन मिला और महाजनी प्रथा अपने क्षेत्र मे सकीर्ण होती गयी।

कोषागार की सफलता से भारत मे शीघ्र ही विदेशी ढग के सयुक्त पूंजी वाले बैंक स्थापित होने लगे परन्तु इनका क्षेत्र व्यापार तक ही सीमित रहा। बडे पैमाने पर रुपये के लेन देन की सुविधा होने के कारण इससे भारत के व्यापार की बडी प्रगति हुई, परन्तु छोटे पैमाने पर उद्योग तथा लगभग कृषि सम्बन्धी सभी कार्यों के लिए देशी बैंक अब भी काम मे लाये जाते थे। अग्रेजी ढग के कलकत्ता और बम्बई मे बने कोषागारो ने अपना कार्य-क्षेत्र धीरे-धीरे बडा व्यापक कर लिया। ये कोषागार एक प्रकार के बैंक के रूप मे कार्य करने लग गये थे। इन कोषागारो से जनता और सरकार दोनो व्यापार अथवा उद्योग के लिए धन उधार ले सकती

थी। इन कोषागारो द्वारा पत्र-मुद्रा का चलन होने पर भारत मे सयुक्त पूजी वाले बैको की स्थापना मे बडी सहायता मिली।

समाज और उद्योग के विकसित होने पर द्रव्य की माँग बहुत बढ गयी और पत्र-मुद्रा तथा साख-पत्रो के चलने से मुद्रा का कई रूपो मे विस्तार हो गया। अत वस्तुओ के मूल्य मे स्थिरता रखने के लिए मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखना आवश्यक हो गया। मुद्रा का मूल्य वस्तुओ के मूल्यो के उतार-चढाव का द्योतक होता है। यदि एक वस्तु का मूल्य ५० प्रतिशत घट जाय और दूसरी का ५० प्रतिशत बढ जाय तो इसका यह तात्पय नही कि मुद्रा के मूल्य-स्तर मे कोई परिवर्तन नही हुअ।। मूल्य-स्तर तो इस बात पर निर्भर होगा कि बढे हुए दाम वाली वस्तु का घटे हुए दाम वाली वस्तु के अनुपात मे कितना आदान-प्रदान हुआ और सामान्य आर्थिक स्थिति पर इसका क्या असर पडा। यदि सभी वस्तुओ का मूल्य एक ही अनुपात मे घटे य। बढे तो अवश्य मुद्रा के मूल्य मे कोई अन्तर नही पडेगा। परन्तु सामान्यत ऐसा नही हो पाता है।

वस्तुओ के मूल्य ‹टने और बढने का द्रव्य के अर्घ पर उसी अनुपात मे प्र भाव पडता है जिस अनुपात मे मूल्य बढता है, क्योंकि द्रव्य की माँग वस्तुओ को प्राप्त करने के लिए ही होती है और वस्तु की उपयोगिता का द्रव्य की उपयोगिता पर प्रभाव पडता है। यदि मूल्य-स्तर बढ जाय तो उसी से कम वस्तुएँ प्राप्त होती है। इस प्रकार यदि वस्तुओ का मूल्य बढता है तो द्रव्य का अर्घ घटता है। सभी वस्तुओ के मूल्यो के घटने अथवा बढने का द्रव्य के अर्घ पर प्रभाव पडता है, अत द्रव्य के अर्घ मे स्थिरता बनाये रखना बहुत आवश्यक है। इस स्थिरता के लिए मुद्रा-पारिमाणिक कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये है। कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि मुद्रा के प्रसार से वस्तुओ के मूल्य-स्तर मे वृद्धि होना स्वाभाविक है और मुद्रा के सकोचन से यह मूल्य-स्तर नीचा हो जाता है। जैसे, यदि मुद्रा की मात्रा दूनी हो जाय तो उतनी ही वस्तु प्राप्त करने के लिए दूना मूल्य देना पडेगा और यदि मुद्रा की मात्रा आधी ही होगी तो उस वस्तु के लिए मूल्य भी आधा ही देना होगा। इसो आधार पर मुद्रा का पारिमाणिक सिद्धान्त

बना। यह सिद्धान्त धातु-मुद्रा, पत्र-मुद्रा तथा साख-मुद्रा सभी पर लागू है। इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा के मूल्य को मापने के लिए उसका औसत चलन-वेग और कुल व्यवसाय की मात्रा मालूम होना आवश्यक है। तभी मुद्रा का मूल्य-स्तर मालूम किया जा सकता है। अत द्रव्य का परिमाण × चलन का औसत वेग = मूल्य का स्तर × कुल व्यवसाय। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी समय देश मे ५ करोड रुपया हो और प्रत्येक रुपये के चलन का औसत वेग दस हो, अर्थात् प्रत्येक रुपया दस बार विनिमय का कार्य करे तो उस समय ५ × १० = ५० करोड रुपये का व्यय माना जायगा। यदि इस काल मे १० करोड मन गेहूँ पर यह रुपया व्यय हुआ हो तो प्रति मन गेहूँ का मूल्य ५/२५ रु० होगा। इसी आधार पर मुद्रा के अर्घ मे परिवर्तन होते रहते है।

द्रव्य के अर्घ (value) मे जल्दी-जल्दी परिवर्तन होने से देश की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है और उद्योग एव व्यापार की प्रगति रुक जाती है, क्योंकि इस परिवर्तन से हानि और लाभ की मात्रा का ठीक अनुमान बहुत समय बाद मालूम पडता है। घटते-बढते मूल्य-स्तर के कारण नये उद्योग भी नही खुल पाते है और आर्थिक सकट उत्पन्न हो जाया करता है। आर्थिक उन्नति के लिए यह बहुत आवश्यक है कि मुद्रा का अघ एक-सा बना रहे।

अध्याय २

मौद्रिक मान

मुद्रा का प्रयोग धीरे-धीरे हमारे दैनिक जीवन मे सभी प्रकार की वस्तुओ और सेवाओ का मूल्य मापने के काम आने लगा। अत यह अति आवश्यक हो गया कि मुद्रा मूल्यवान् धातु की बनायी जाय जो सभी को मान्य हो। सोना अथवा चाँदी ही इस योग्य माने गये कि इनकी मुद्राएँ सर्वमान्य हो। इस प्रकार किसी देश ने एक धातु की मुद्रा प्रचलित की और किसी ने दूसरी धातु की मुद्रा का प्रयोग किया। सोने और चाँदी दोनो की मुद्राएँ प्रयोग मे लायी गयी। कहीं-कहीं दो या दो से अधिक धातुओ को मिलाकर मिश्रित धातु की मुद्रा भी प्रयोग मे आयी। बाद मे पत्र-मुद्रा का प्रयोग बहुत व्यापक हो गया।

मुद्रा-पद्धति देश की आर्थिक परिस्थितियो और देश-वासियो की आवश्यकताओ के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। एक धातु वाली प्रणाली मे एक ही धातु की प्रमुख मुद्रा देश की समस्त वस्तुओ और सेवाओ का मूल्यांकन करती है। अन्य प्रकार की मुद्राएँ उसी एक मुद्रा के मूल्य से सम्बन्धित रहती है। एक धातुवाद मे निम्नलिखित तीन विशेषताएँ होती है।

(१) एक ही मुद्रा देश की प्रमुख मुद्रा हो जो असीमित सख्या मे प्रयोग मे लायी जा सकती हो।

(२) मुद्रा की ढलाई स्वतन्त्र रूप से हो सकती हो, अर्थात् कोई भी नागरिक उस धातु से सरकारी टकसाल मे मुद्रा बनवा सके।

(३) अन्य सभी प्रकार की मुद्राएँ साकेतिक मुद्राएँ मानी जायँ जिन्हे किसी भी समय प्रमुख मुद्रा मे परिणित किया जा सके।

भारतवर्ष मे १८९३ ई० के पूर्व देश की प्रमुख मुद्रा चाँदी का रुपया

था। रुपये की तोल १६५ ग्रेन शुद्ध चाँदी की होती थी। इसी प्रकार १९३३ से पूर्व शुद्ध सोने का डालर अमेरिका की प्रमुख मुद्रा थी।

देश की आर्थिक परिस्थितियो के कारण तथा आयात और निर्यात की कठिनाइयो को दूर करने के लिए भारतवर्ष की मुद्रा-प्रणाली मे समय समय पर कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए और स्वर्णमान तथा रजतमान दोनो प्रकार के ढग अपनाये गये। इग्लैन्ड से राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्ध रहने के कारण वहाँ की मुद्रा का हमारे देश की आर्थिक परिस्थिति पर बहुत प्रभाव पडा। कई बार तो हमारे मुद्रा-मान मे महत्वपूर्ण परिवर्तन केवल इसलिए करने पडे कि इग्लैन्ड की मुद्रा डावाडोल स्थिति मे थी। देश की विभिन्न मुद्रा-प्रणालियाँ तथा उनके परिवर्तन निम्नलिखित ढग से हुए है।

स्वर्णमान (Gold Standard)—स्वर्णमान मे प्रचलित मुद्रा का मूल्य वास्तविक होता है। यह मान एक धातुमान का सबसे प्रसिद्ध तथा अधिक प्रचलित मान रहा है। स्वर्णमान की परिभाषा अर्थशास्त्र के अन्य शब्दो की भाति कई प्रकार से की गयी है। निम्नलिखित विद्वानो ने इस शब्द की इस तरह की परिभाषा की है—

काल बोरन—स्वर्णमान ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक चलन की मुद्रा की मुख्य इकाई निश्चित किस्म के सोने की एक निश्चित मात्रा मे बदली जा सकती है।

प्रो० राबर्टसन—स्वर्णमान वह अवस्था है जिसमे कोई देश अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य और सोने की एक निश्चित मात्रा का मूल्य एक दूसरे के बराबर रखता है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि स्वर्णमान देश की धारा-सभा द्वारा पारित किये गये अन्य नियमो की भाति एक नियम है जिसके द्वारा मुद्रा-अधिकारी देश की मुद्रा-इकाई को सोने की निश्चित मात्रा मे बराबर बदलते रहे। कभी-कभी देश की मुद्रा को एक दूसरे रूप अर्थात् परोक्ष रूप मे भी सोने मे बदला जा सकता है। स्वर्ण-मान के प्रत्यक्ष रूप मे उत्तरदायित्व का उदाहरण उस समय मिलता है जब कि प्रथम महायुद्ध के पहले बैंक आफ इग्लैन्ड की यह जिम्मेदारी

थी कि बेचने वाले से ४ २४०९ पौण्ड प्रति औस की दर पर वह सोना खरीदे और ४ २४७७ पौण्ड प्रति औस की दर प्रत्येक को सोना बेचे। यह प्रत्यक्ष रीति से सोना बदलने का उदाहरण है। देश की मुद्रा स्वर्ण मे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी रूप से परिवर्तनशील हो, प्रत्येक दशा मे इस मान के अन्तर्गत स्वर्ण मुद्रा मे तथा मुद्रा स्वर्ण मे बदली जा सकती है।

स्वर्णमान को स्थापित करने का मुख्य लक्ष्य यह है कि देश की मुद्रा की कीमत स्वर्ण मे एक निश्चित मात्रा के बराबर रहे। सरकार को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ नियम बनाना आवश्यक होता है। मुद्रा की प्रत्येक इकाई की कीमत का स्वर्ण से उचित अनुपात होना चाहिए, चाहे वह धातु के सिक्के के रूप मे हो अथवा पत्र-मुद्रा या साख-मुद्रा के रूप मे हो। स्वर्ण को किस रूप मे ग्रहण किया जाय, इस बात पर भी सरकार को निश्चयात्मक रूप से विचार करना पडता है।

स्वर्णमान को पूर्ण रूप से स्थापित करने के लिए सरकार को निम्न-लिखित बातो की आवश्यकता पड़ती है।

(१) अपने देश की मुद्रा-इकाई की कीमत सोने की एक निश्चित मात्रा मे निर्धारित करनी पडती है। यह कार्य दो प्रकार से किया जा सकता है—

(अ) सोने की मात्रा का उल्लेख मुद्रा-इकाई मे ही कर दिया जाय, जिस का प्रमाण हमे इग्लैन्ड मे मिलता है।

(ब) सोने की टकसाली कीमत निश्चित हो। इस रीति का उदाहरण हमे अमेरिका तथा भारत द्वारा प्राप्त होता है। भारत-सरकार ने २१ रु० ७ आना १० पाई बराबर एक तोले सोने की कीमत निश्चित की थी तथा अमेरिका ने ३५ डालर बराबर १ औस सोने की सरकारी अथवा टकसाली कीमत निश्चित की थी।

(२) मुद्रा-अधिकारी को इस बात का प्रबन्ध करना पडता है कि असीमित मात्रा मे एक निश्चित दर पर सोना बिके।

(३) जितना भी सोना निर्धारित दर पर बिकने के लिए आता है उसे मुद्रा-अधिकारी को क्रय करना चाहिए।

(४) सोने का व्यापार स्वतन्त्र होना चाहिए अर्थात् उसके आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध या रुकावट नही होनी चाहिए।

(५) देश की चालू मुद्राएँ मुख्य मुद्रा मे परिवर्तनशील होनी चाहिए। इसके लिए सभी मुद्राओ की आपसी विनिमय दर निश्चित होती है।

स्वर्णमान की ऐतिहासिक विवेचना—द्विधातुमान को १९वी शताब्दी मे स्थापित करने के लिए कितने ही यत्न अवश्य किये गये, परन्तु इससे सम्बन्धित कठिनाइयो ने यह प्रयत्न सफल न होने दिया। उस समय स्वर्णमान काफी जोर पर था, क्योकि चाँदी की कीमतो मे इतना अधिक फेर-बदल होता था कि रजतमान का जीवित रहना सम्भव न था। उस समय सोना ही मूल्यमाप[1] के रूप मे अधिक उपयुक्त समझा गया, क्योकि इसके मूल्य मे काफी स्थिरता थी तथा इसके कई कारण भी थे, जैसे सोने का अधिक मूल्यवान् धातु होना तथा इसके वार्षिक उत्पादन की कमी। साथ ही साथ ससार के अन्य देशो ने भी स्वर्णमान को ग्रहण करने के लिए उत्सुकता दिखायी। प्रथम महायुद्ध के पूर्व जिन देशो मे स्वर्णमान प्रचलित था उन्होने स्वर्ण-मुद्रामान[2] ग्रहण किया था। इस मान के अन्तर्गत सोने के सिक्के प्रचलन मे होते है तथा सोना ही मूल्यमापक तथा विनिमय के माध्यम के रूप मे कार्य करता है। यहाँ तक कि विदेशी विनिमय भी स्वर्ण पर ही आधारित होता है। चलार्थमुद्रा की स्वर्ण खरीदने की शक्ति की समानता के द्वारा विदेशी विनिमय दर निश्चित होती है। इसमे परिवर्तन होना भी सम्भव है, परन्तु ये परिवर्तन स्वर्ण-आयात तथा निर्यात बिन्दु तक ही सीमित होते है।

इसी समय स्वर्ण-विनिमय-मान[3] जो कि स्वर्ण-मान का दूसरा रूप है

1 Denomination
2 Gold currency Standard
3. Gold exchange Standard

कुछ देशो मे प्रचलित था। यह पद्धति गरीब देशो द्वारा, जिनके पास सोने की कमी होती है, अपनायी जाती है। इस प्रणाली मे सोने के सिक्के के उपयोग मे बचत होती है, क्योकि सोने के सिक्के का प्रचलन नही होता। इस मान मे स्वर्ण से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक दूसरी ही नीति अपनायी जाती है, जिसमे किसी शक्तिशाली मुद्रा से, जो स्वर्ण पर आधारित होती हे, देश की मुद्रा का सम्बन्ध जोड दिया जाता है। देशी चलन, विदेशी मुद्रा तथा स्वर्ण का एक कोष बनाया जाता है जो नियत दर पर विदेशी विनिमय क्रय करने तथा बेचने की सुविधा प्रदान करता है। भारतवर्ष मे यह प्रणाली १९०७–८ से १९१७ तक प्रचलित थी। विश्व के अन्य देशो, जैसे हालैन्ड, जावा, आस्ट्रेलिया तथा हगरी मे भी यह प्रचलित थी। विदेशी ऋण का सोने मे भुगतान करने का भारत सरकार का वैधानिक उत्तरदायित्व था। सरकार एक निर्धारित दर अर्थात् १ शिलिग ४ पेन्स प्रति रुपये की दर से, रुपयो को स्टर्लिग मे बदलती थी। आन्तरिक उपयोग के लिए देश मे चाँदी के सिक्के का प्रामाणिक मुद्रा के रूप मे प्रचलन था। स्वर्णमान बिना किसी कठिनाई के प्रथम महायुद्ध तक चलता रहा। आर्थिक परिस्थितियो मे भिन्नता होते हुए भी विभिन्न देशो मे मौद्रिक सहयोग था तथा आन्तरिक और विदेशी विनिमय दर स्थायी रही। परन्तु स्वर्णमान वाले देशो ने युद्ध आरम्भ होते ही कठिनाइयो का अनुभव किया तथा सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया। सोने के सिक्को की निकासी बन्द हो गयी। लोग सोना इकट्ठा करने लगे। अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश ने भी सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार स्वर्णमान के नियमो का उल्लघन होने के कारण इस मान का लोप हो गया। स्वर्णमान वाले देशो ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कागज के नोट छापना प्रारम्भ कर दिया तथा स्वर्णकोषो पर कोई विशेष ध्यान नही दिया।

युद्ध के बाद स्वर्णमान की स्थापना—युद्ध के अन्त के बाद कुछ देशो ने स्वर्णमान की स्थापना के लिए अधिक प्रयत्न किये। एक अन्तर्राष्ट्रीय

मुद्रा सम्मेलन ब्रुशेल्म मे मन् १९२० मे हुआ। इस सम्मेलन ने स्वर्ण को फिर से स्थापित करने का आदेश दिया। १९१९ मे सोने के आयात-निर्यात से प्रतिबन्ध हटा लिये गये थे। स्वर्णमान की स्थापना के लिए सबसे पहले सयुक्त राज्य अमेरिका ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। सन् १९२२ मे एक और अर्थ-सम्मेलन हुआ जिसने यह आदेश दिया कि सभी देशो को अपने देश की मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता रखनी चाहिए, जो आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अत्यन्त आवश्यक थी। पहले जैसी परिस्थितियो को प्राप्त करने के लिए १९२५ मे फ्रास तथा इग्लैण्ड और १९२८ मे भारत ने भी स्वर्णमान को फिर से स्थापित किया। मुद्रा-स्फीति ने भी युद्धोत्तर काल मे भीषण रूप धारण कर लिया था, अत इससे स्वर्णमान को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन मिला।

युद्ध के उपरान्त अमेरिका ने स्वर्ण के निर्यात पर से प्रतिबन्ध हटाकर स्वर्णमान को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया, क्योकि उसके सामान्य मूल्य-स्तर मे बहुत कम वृद्धि हुई थी। अन्य देशो के सम्मुख भी स्वर्णमान के पुन. स्थापित करने की समस्या उत्पन्न हुई। स्वीडन, नार्वे, हालैन्ड और स्विटजरलैन्ड ऐसे देशो मे, जिन पर युद्ध का कोई प्रभाव नही पडा था, स्वर्णमान पुन ग्रहण करने मे कोई कठिनाई नही हुई। इग्लैन्ड तथा जर्मनी मे पत्र-मुद्रा का निर्गमन अधिक हो गया था। इस लिए बिना सकोचन किये स्वर्ण-विनिमय-मान का ग्रहण करना कठिन था। स्पेन को छोडकर लगभग सभी देशो ने स्वर्णमान को स्थापित किया, किन्तु शीघ्र ही कठिनाईयो ने भीषण रूप ले लिया तथा मौद्रिक सहयोग बनाये रखना कठिन हो गया। अन्य देशो का ध्येय उचित तथा अनुचित रूप से सोना प्राप्त करना था ताकि विदेशी व्यापार द्वारा उनका आर्थिक विकास हो। ऐसी भावना के जागृत होते ही १९३१ मे इग्लैन्ड तथा १९३३ मे अमेरिका ने स्वर्ण-पाट-मान[1] को छोड दिया। इस प्रकार शीघ्र ही स्वर्णमान समाप्त हो

1 Gold Bullion Standard

गया। सबसे बाद, लगभग १९३६ मे फ्रान्स ने स्वर्णमान को त्याग कर इसे ससार से लुप्त कर दिया।

स्वर्णमान की समाप्ति का कारण—युद्धोत्तर काल मे कुछ ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई जिनकी उपस्थिति मे स्वर्णमान का चलन सभव न था। इसी से विश्व मे पुन स्थापित होने के बाद यह शीघ्र ही समाप्त हो गया। इसके टूटने के कई कारण थे, जो निम्नलिखित है।

(१) सबसे पहला कारण यह कहा जा सकता है कि लगभग सभी देशो ने इसके नियमो की अवहेलना की। फ्रान्स तथा अमेरिका ने स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार इन देशो ने सब से पहले इसके नियम का उल्लघन किया। इग्लैन्ड ने स्वर्णमान ग्रहण करने के बाद अपने देश की मुद्रा का अधिमूल्यन कर दिया, जिससे व्यापार-सन्तुलन उसके प्रतिकूल हो गया और सोना बराबर बाहर जाने लगा। इस प्रकार इग्लैन्ड ने भी नियम का उल्लघन किया। ऐसी दशा मे तो इग्लैन्ड को मुद्रा-सकोचन तथा अवमूल्यन करना चाहिए था परन्तु प्रतिभूतियो का क्रय करके उसने मुद्रा का मूल्य गिरने नही दिया, जिसका परिणाम हानिकारक हुआ। इसके विपरीत फ्रान्स ने ऐसी नीति अपनायी जिससे उसका व्यापार-सतुलन अनुकूल रहा और सोना बराबर आता रहा जिसका वह सचय करता गया। इस प्रकार ससार मे स्वर्ण का असमान वितरण हो गया जो कि स्वय-सचालन मे बाधक था।

(२) स्वर्ण के असमान वितरण ने देशो को स्वर्णमान का परित्याग करने पर विवश कर दिया। जर्मनी तथा यूरोप के अन्य देशो मे स्वर्ण की काफी कमी थी तथा फ्रान्स और अमेरिका मे अधिकता। स्वर्ण की कमी के कारण स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबध लगा दिया गया जिससे स्वय-सचालन भग हो गया और स्वर्णमान टूट गया।

(३) आर्थिक राष्ट्रीयवाद का विकास—युद्ध काल मे एक प्रकार से विदेशी व्यापार नही के बराबर था जिससे देश मे उन वस्तुओ की अधिक कमी हो गयी जिनके लिए विदेशी व्यापार पर निर्भर रहना

पडता था। उन देशो को अधिक कष्ट हुआ जो कि कच्चे माल के लिए दूसरो पर आश्रित थे। इस कष्ट को दूर करने के लिए कितने ही देशो ने उद्योग-सरक्षण तथा अन्य कृत्रिम रीतिया अपनायी। प्रशुल्कनीति, आयातो पर नियत्रण तथा अभ्यश प्रणाली ने स्वर्णमान के नियमो को तोड दिया।

(४) अन्य सभी देशो ने युद्धोत्तर काल मे स्वर्ण-मुद्रा मान को त्याग दिया तथा स्वर्ण-विनिमय मान और और स्वर्ण-पाट मान को अपनाया, जिसमे स्वय-सचालितता का गुण इतना अधिक नही पाया जाता। इस मे सरकारी हस्तक्षेप की काफी आवश्यकता पडती थी तथा कुछ देशो ने दूरदर्शिता से काम नही लिया।

(५) बैंकिंग और साख-मुद्रा का अत्यधिक विकास हो जाने के कारण उनके नियत्रण मे कठिनाई उत्पन्न होने लगी। साख-मुद्रा का नियत्रण करना अत्यन्त आवश्यक था परन्तु उसके उपाय सरल नही थे, इसलिए नियत्रण ढीला पड गया। बैंक-दर, खुले बाजार की क्रिया तथा अन्य उपायो द्वारा भी इसमे सफलता प्राप्त नही हुई।

(६) युद्धोत्तर काल मे राजनीतिक परिस्थितियाँ—जो देश युद्ध मे विजयी हुए थे उन्होने भी स्वर्णमान के परित्याग मे पर्याप्त साथ दिया। उनकी नीतिया घातक सिद्ध हुई। डालर की माग अत्यधिक बढने लगी, क्योकि अमेरिका ने पराजित देशो से सन्धि करके उन्हे युद्ध-कालीन ऋण वापस करने पर विवश किया, जिससे सोना और भी अमेरिका में आने लगा। जर्मनी इन ऋणो के भार से व्याकुल हो गया और उसने घबराकर स्वर्णमान का परित्याग कर दिया। युद्ध के पश्चात् ससार के देशो की आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ इस प्रकार बदली कि स्वर्णमान का अन्त हो गया।

(७) इसके पतन का सबसे बडा कारण यह भी था कि यह मान समान परिस्थिति का दोस्त कहलाता है और विषम परिस्थिति मे यह साथ नही देता है। यह गिरे हुए देश को और गिरा देता है, इसलिए इसको त्याग दिया गया।

(८) शरणार्थी पूँजी का आतक—बहुत दिनो से यह प्रथा चली आ रही थी कि विदेशो के छोटे-छोटे अल्पकालीन कोषो मे बहुत से देश अपनी पूँजी जमा करते थे। परन्तु युद्धकाल मे लगभग सभी देशो ने ऐसी पूँजी पर रोक लगा दी, ब्याज ही नही, उन्होने मूलधन तक वापस करना बन्द कर दिया। परिणाम यह हुआ कि ऐसी पूँजी सुरक्षा की खोज मे मारी-मारी फिरने लगी।

(९) स्वर्णमान वाल देश को दूसरे स्वर्णमान वाले देशो की आर्थिक परिस्थितियो पर निर्भर रहना पडता है, अर्थात् वह उनका दास बन जाता है। यदि किसी भी कारण से एक स्वर्णमान वाले देश की आर्थिक परिस्थितियो मे कोई भारी परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव अन्य स्वर्णमान देशो पर भी पडता है। स्वर्णमान आधी के समान है जो कि स्वर्णमान देशो को वृक्ष की भाति झकझोर कर रख देता है। यदि एक देश मे कीमते बढती है तो उस देश मे आयात अधिक बढ जाता है तथा अन्य स्वर्णमान देश मे भी वस्तु और सेवाओ की माग बढने लगती है। स्वर्णमान ग्रहण करने वाले देशो को तो इसकी आपत्तियो तथा गलतियो का फल मिलता ही है, साथ ही दूसरे देश भी बिना इससे प्रभावित हुए नही रह सकते। क्या स्वर्णमान फिर से स्थापित किया जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए यह आवश्यक है कि उन सब आवश्यकताओ का अध्ययन कर लिया जाय जिन पर यह मान आधारित है। यह निम्नोक्त परिस्थितियाँ चाहता है।

(१) इस मान की सफलता के लिए ससार मे स्वर्ण पर्याप्त मात्रा मे होना चाहिए तथा उसका असमान वितरण नही होना चाहिए।

(२) स्वर्णमान की सफलता इस बात पर भी निर्भर है कि ससार के अधिकतर देश इसको अपनाये, तभी इसके सचालन मे सफलता हो सकती है।

(३) स्वर्णमान वाले देशो को इसके नियमो का उल्लघन नही करना चाहिए।

(४) व्यापार स्वतन्त्र होना चाहिए, इस पर किसी भी प्रकार की रोक नही होनी चाहिए।

(५) देश की मौद्रिक प्रणाली मे लोच होनी चाहिए।

(६) समस्त स्वर्णमान देशो मे राजनीतिक सहयोग तथा शान्ति होनी चाहिए।

इस मान के अन्तर्गत इतनी शर्तें है कि इनका ससार मे पाया जाना सभव नही है, जिससे इसकी स्थापना मे काफी कठिनाई है। कीन्ज तथा कैसल का विचार है कि भविष्य मे स्वर्णमान की स्थापना लगभग असभव है, क्योकि मूल्य की अस्थिरता के कारण स्वर्ण ने मौद्रिक क्षेत्रो मे अपना महत्व खो दिया है। इस लिए भविष्य मे निश्चित-पत्र-मुद्रा-मान ही सम्भव है।

क्राउथर का विचार है कि स्वार्थी व्यापारिक प्रणाली के सहारे चल कर किसी भी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राप्रणाली, चाहे वह राष्ट्र के हित मे ही क्यो नही हो, सफल नही हो सकती। आजकल ससार मे निजी स्वार्थ इतना जोर पकडता जा रहा है कि स्वर्णमान की सफलता सम्भव नही है। स्वर्णमान पर विचार करने का मुख्य कारण यह है कि पत्र-मुद्रा प्रणाली मे अधिक निकासी से जनता का विश्वास कम रहता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे कठिनाई होती है।

ब्रेटेन-वूड्स मे एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिषद् की बैठक जुलाई सन् १९४४ मे हुई थी। इस परिषद् ने स्वर्णमान टूट जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे जो गडबडी हो गयी थी उसको समाप्त करने के लिए विचार किया। परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास-बैंक की स्थापना पर जोर देकर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सहयोग की नीति स्वीकार की थी। इसको कार्यान्वित भी किया गया। स्वर्ण को कीमत के अन्तिम मान के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-स्तर तथा विदेशी विनिमय दरो का आधार माना गया, परन्तु स्वर्णमान की स्थापना नही हुई। स्वर्णमान की स्थापना की आशा उस समय तक नही की जा सकती है जब तक स्वर्ण का समान वितरण तथा स्वर्णमान-

देशो मे सहयोग न हो और मुद्रा-स्फीति की नीति न छोडी जाय। इसके अतिरिक्त धनवान् देशो को स्वर्ण-नीति मे अधिक मात्रा मे परिवर्तन करना पडेगा।

स्वर्णमान के रूप—स्वर्णमान को वैसे तो चार रूप दिये गये हैं परन्तु इन चार रूपो मे से तीन तो प्रचलित है, चौथा केवल नाम मात्र का है, इसके प्रचलन का उदाहरण भी किसी देश मे नही मिलता। अर्थशास्त्रियो का विचार था कि भविष्य मे ऐसी सम्भावना हो सकती है जब कि चौथे प्रकार का स्वर्णमान ग्रहण करना पडे। ये चार रूप निम्न लिखित है।

इनमे से प्रत्येक का अलग अलग अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। इनका वर्णन निम्न पक्तियो मे किया गया है।

१ स्वर्णमुद्रा-मान (Gold currency standard)

स्वर्णमान का यह सबसे अधिक विख्यात मान है। इसको लेखको ने कई सज्ञाए दी है, जैसे स्वर्ण-प्रचलन-मान, स्वर्ण-टकन-मान तथा स्वर्णमान (मुख्य)। बडे देशो, जैसे अमेरिका, इग्लैन्ड, फ्रान्स, जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशो मे यह मान प्रथम महायुद्ध के पूर्व प्रचलित था। यद्यपि इसके बाद भी यह मान प्रचलित था परन्तु युद्ध के समय इसका प्रचलन नही के बराबर था। इस मान की निम्नलिखित विशेषताए है।

(१) एक निश्चित मात्रा मे स्वर्ण की मुद्रा-इकाई की कीमत निर्धारित की जाती है।

(२) स्वर्ण-मुद्रा भुगतान के लिए असीमित विधि ग्राह्य होती है।

(३) सोने की ढलाई स्वतन्त्र होती है ।

(४) देश के अन्तर्गत स्वर्ण-मुद्रा का चलन होता है तथा गौण और पत्र-मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है ।

(५) देश मे प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का चलन होता है। सभी प्रकार की साख-मुद्रा कीमत के अनुसार सोने मे बदली जाती है ।

(६) स्वर्णनिधि पर देश मे चलन की मात्रा अवलम्बित होती है। इस मे घटबढ के कारण चलन की मात्रा मे कमी या वृद्धि होती है।

(७) सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध नही होता ।

इन विशेषताओ का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस मान के अन्तर्गत गुणो का भण्डार है । जैसा कि इसकी एक विशेषता से पता चलता है, देश मे चलन की मात्रा स्वर्णनिधि पर आधारित होती है । इससे मुद्रा तथा साख की उत्पत्ति पर नियत्रण रहता है । केन्द्रीय सत्ता द्वारा व्यापारिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए मुद्रा की पूर्ति पर नियत्रण नही किया जाता । इसे प्राकृतिक शक्तियो की स्वय-सचालकता पर स्वतन्त्र छोड दिया जाता है। देश मे ही नही बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे भी यह मान नियत्रण का कार्य करता है। लगभग सभी देशो को भुगतान के लिए पर्याप्त मात्रा मे सोना आसानी से प्राप्त हो जाता है। लगभग सभी स्वणमान देशो की विनिमय दर मे परिवर्तन केवल आयात और निर्यात ऋय तक ही सकुचित रहते है। स्वर्ण-कोषो मे आयात-निर्यात द्वारा जो विनिमय दर का परिवर्तन होता है वह अपने आप सतुलित हो जाता है। प्रथम महायुद्ध के काल मे प्रत्येक देश को युद्ध के कार्यों के लिए धन की आवश्यकता प्रतीत होती थी, जिसे पूरा करने के लिए कागज के नोट छापना आरम्भ किया गया। पर इस प्रकार स्वर्णमान बनाये रखना कठिन था। यदि कागज के नोट न छापे जाते तो बिना स्वर्णकोष मे वृद्धि किये मुद्रा प्राप्त करना कठिन था और युद्ध के समय सोना आता कहाँ से । इसलिए विवश होकर स्वर्ण-मुद्रा-मान को त्यागना पडा। यूरोप के देशो ने इसे फिर से ग्रहण किया परन्तु सफल नही हुए ।

स्वर्ण-मुद्रा-मान के लाभ तथा हानि—इस मान के पक्ष मे बहुत से तर्क रखे गये है तथा इसके विपक्ष मे भी कुछ तर्क है।

पहले हम इसके लाभो पर विचार करते है। ये निम्नलिखित है—

(१) मुद्रा-प्रणाली की स्वय-सचालितता—इस मान का महत्वपूर्ण लाभ स्वय-सचालितता है। इस मान के सचालन के लिए सरकार को हस्तक्षेप नही करना पडता। प्रो० कैनन ने तो इस मान को मूर्ख-सिद्ध तथा मक्कार-सिद्ध कहा है।

यदि किसी देश की मुद्रा-सचालन प्रणाली मे कोई गलती होती है तथा वह किसी दूसरे देश को अपनी आर्थिक परिस्थिति के बारे मे धोखा देना चाहता है तो उससे उत्पन्न होने वाली स्थिति मे स्वय सुधार हो जाता है। सरकार को केवल कुछ नियम पालन करने पडते है और इन नियमो का पालन करने से स्वर्ण-चलन-मान अपने आप चलता रहता है। सोने के आयात-निर्यात से प्रतिबन्ध हटा लिये जाते है तथा स्वर्ण-कोष के परिवर्तन के कारण मुद्रा मे परिवर्तन होता है। इसकी स्वय-सचालितता प्राप्त करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नही करना पडता है।

(२) विश्वास—इस मान मे विश्वास न होने का तो कोई प्रश्न ही नही उठता है, क्योकि इसका बाह्य तथा आन्तरिक मूल्य दोनो बराबर होते है। यदि मुद्रा का मूल्य समाप्त भी हो जाय तो स्वर्ण के रूप मे उसका प्रयोग किया जा सकता है। पत्र-मुद्रा प्रणाली मे यह गुण नही पाया जाता। क्योकि विमुद्रीकरण होने पर कुछ भी मूल्य शेष नही रह जाता है। स्वर्ण-कोष पर मुद्रा की मात्रा निर्भर होती है, इसलिए अधिक निकासी का भी भय नही रहता तथा जनता का विश्वास बना रहता है।

(३) देश मे कीमत-स्तर की स्थिरता—इस मान के पक्ष मे सब से अधिक महत्वपूर्ण तर्क यही रखा जाता है कि इसके द्वारा देश मे कीमत का स्तर स्थिर रहता है। स्वर्ण का मूल्यमान के रूप मे उपयोग किया जाता है इस लिए क्रय-शक्ति मे परिवर्तन होने की सभावना कम होती है तथा आर्थिक साम्य भी भग नही होता। आर्थिक जीवन

को किसी प्रकार का धक्का नही लगता। अन्य वस्तुओ की भाति स्वर्ण-कीमत-स्तर मे परिवर्तन बहुत कम होता है।

(४) विदेशी विनिमय दर की स्थिरता—यदि विदेशी व्यापार मे अस्थिरता की सभावना होती है तो विदेशी व्यापार उन्नति नही करता। वह देश भी उन्नति नही करता जो विदेशी विनिमय पर ही आश्रित है। विनिमय वाले देश की परिस्थिति का प्रत्यक्ष प्रमाण उस समय मिलता है जब कि प्रथम महायुद्ध के बाद स्वर्णमान के त्यागने पर विदेशी व्यापार मे काफी कमी हुई थी। यह भी स्वर्णमान का महत्वपूर्ण लाभ है जिसे अब सब स्वीकार करते है।

हानि—ऐसा कहा जाता है कि ऊपर बताये गये इसके सभी लाभ कल्पना मात्र है तथा व्यावहारिक जीवन मे इसके दोष ही दृष्टिगोचर होते है जो निम्नलिखित है—

(क) स्वर्ण-मुद्रा-मान मे लोच का अभाव है। युद्ध तथा सकट के समय चलन की मात्रा बढाने के लिए स्वर्ण-कोष को भी बढाना पडता है। युद्ध के समय स्वर्ण का प्राप्त करना कठिन होता है, इसलिए स्वर्ण-मान से देश के सम्मुख सकट की स्थिति आ जाती है और इससे निकलने का एक मात्र उपाय यही बचता है कि देश सकटकालीन समय के लिए स्वर्ण-चलन-मान को समाप्त कर दे। इसलिए इसको कुछ विद्वानो ने अनुकूल परिस्थिति का मित्र कहा है।

(ख) कीमतो की स्थिरता काल्पनिक है। कुछ विद्वानो ने यह तर्क रखा है कि मुद्रा के मूल्य को स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर रखने का उपाय स्वय कीमतो मे अस्थिरता उत्पन्न कर देता है। सोने की कीमत के प्रत्येक परिवर्तन से कीमत-स्तर मे भी परिवर्तन होता है, जिससे इस नीति को अपनाना अधेरे मे छलाग लगाने के बराबर है। सोने की कीमत मे कई कारणो से परिवर्तन की सम्भावना रहती है, जैसे नयी खानो का पता लगना तथा खानो का समाप्त होना।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव। स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वय-

सचालितता का गुण पाया जाता है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा सभी देशो द्वारा इसके नियमो का पालन करने पर ही सभव हे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ऐसा अनुभव किया गया था कि कोई भी देश इसके नियमो का पालन नही करता। किसी देश मे यदि सोने पर प्रतिबन्ध था तो मुद्रा की मात्रा मे स्वर्ण-कोष की मात्रा के अनुसार परिवर्तन नही हुआ था, जिससे स्वय-सचालितता का गुण समाप्त हो जाता है। युद्ध के समय स्वर्ण का असमान वितरण हो गया था। अनेक देशो को तो स्वर्ण की कमी के कारण इस मान को त्यागना पडा तथा कुछ देशो मे स्वर्ण की अधिकता के कारण मुद्रा-प्रसार हो गया।

(घ) कुछ विद्वानो का कहना है कि कीमत तथा विदेशी विनिमय मे स्थिरता के लिए स्वर्णमान का होना आवश्यक नही है। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष बिना स्वर्णमान के ही आवश्यक कार्य कर रहा है। कुछ विद्वानो का कहना है कि कीमतो की स्थिरता सदा लाभदायक नही हे। इसमे कुछ अशो तक फेर-बदल होना चाहिए। कुछ विद्वान् इसके स्थान पर एक यह उपाय बताते है कि कीमत-स्तर मे स्थिरता रहे तथा विदेशी विनिमय-दर मे भारी परिवर्तन न होने पाये, इसके लिए स्वर्णमान की अपेक्षा प्रतिबन्धित मुद्रा-प्रणाली अधिक लाभदायक है।

२ स्वर्ण-पाट-मान (Gold Bullion standard)

इस मान को स्वर्ण-धातु-मान भी कहा जाता है। इसे प्रथम महायुद्ध के बाद ही अमेरिका तथा अन्य यूरोपीय देशो ने ग्रहण किया था। यह स्वर्ण-मुद्रा-मान से मिलता-जुलता है या यो कहिए कि यह उसका दूसरा रूप है। स्वर्णमान युद्ध के समय छोडना पडा था क्योकि चलन को बढाने के लिए स्वर्ण-कोष अधिक नही था, इसलिए इसके नियमो का पालन करना कठिन हो गया। युद्ध के समय चलन का अधिक विस्तार हुआ परन्तु इसको आधार(आड)प्रदान करने के लिए सोना अधिक नही था तथा यह भी भय था कि यदि मुद्रा की मात्रा मे कमी की जाय तो मुद्रा-

सकोच न हो जाय। स्वर्ण को पुन स्थापित करना भी अभीष्ट था, परन्तु एक परिवर्त्तित रूप मे। इसलिए स्वर्ण-पाट-मान का जन्म हुआ, क्योकि इसमे स्वण-कोष की अधिक आवश्यकता नही थी। अन्य मानो की भाति इसकी भी निम्नलिखित विशेषताएँ है—

(१) इस स्वर्णमान मे सोने के सिक्को का प्रचलन नही होता। उसके स्थान पर छोटे सिक्के तथा कागज के नोट प्रचलन मे होते है जिनकी कीमत स्वर्ण मे निर्धारित रहती है।

(२) स्वर्ण की ढलाई स्वतन्त्र नही होती।

(३) कागजी मुद्रा के पीछे शत-प्रति-शत निधि नही होती है। यह निधि प्राय ३० प्रतिशत या ४० प्रतिशत होती है। परन्तु सरकार यह वचन देती है कि वह कागज के सभी नोटो को स्वर्ण मे बदल देगी। शत-प्रति-शत कोष इसलिए नही रखा जाता क्योकि ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि सभी व्यक्ति एक साथ स्वर्ण मे 'रुपये' को बदलने के लिए नही लायेगे। थोडा-सा आधार होने के कारण जनता का विश्वास भी बना रहता है।

(४) एक निश्चित कीमत पर सरकार सोना क्रय करने तथा बेचने का प्रबन्ध करती है जिसकी परिवर्तन-दर सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है। सैद्धान्तिक रूप मे सरकार असीमित मात्रा मे सोना बेचने को कहती है किन्तु बार-बार बेचने से जो कठिनाई उत्पन्न होती है उससे बेचने के लिए एक निश्चित मात्रा नियत कर दी जाती है, जैसे भारत मे ४० तोला तथा इग्लैन्ड मे ४०० औस थी।

(५) सरकार एक स्वर्ण-कोष रखती है जिसका मुख्य उद्देश्य यह होता है कि विदेशी भुगतानो के लिए पर्याप्त मात्रा मे सोना जनता प्राप्त कर सके।

इस मान की विशेषताओ को देखने से पता चलता है कि इसमे सोने के सिक्को का चलन नही होता है तथा इनके स्थान पर निम्न कोटि की धातविक मुद्रा तथा कागज के नोट चलन मे होते हैं, जिनको एक निश्चित दर पर सोने मे बदलने की गारन्टी दी जाती है। भारत ने इस मान को

१९२७ मे अपनाया। भारत सरकार ने देश की मुद्रा को २१ रुपया ७ आना १० पाई प्रति तोला सोने की दर से ४० ४० तोले के सिक्को मे बदलने की गारन्टी दी थी। १९३१ मे भारत ने इग्लैन्ड के स्वणमान परित्याग करने पर इसे छोड दिया। भारत इग्लैन्ड का बराबर अनुकरण करता रहा, पर धीरे-धीरे सभी देशो ने इसका परित्याग कर दिया। लगभग १९३६ के बाद यह मान ससार से उठ गया।

स्वर्ण-पाट-मान के लाभ—स्वर्ण-पाट-मान स्वर्ण-चलन-मान का एक परिवर्तित रूप है इसलिए इसको कुछ विद्वानो ने स्वर्ण-चलन-मान से अच्छा बताया है। इसमे स्वर्ण के सिक्को का प्रचलन नही होता है। इसके और भी लाभ है, जैसे स्वर्ण के सिक्को के मुद्रण की बचत, चलन मे सोना घिसता नही है तथा सोने के उपयोग मे बचत होती है।

इस प्रणाली के अन्तर्गत लोच की प्रचुरता होती है क्योकि चलन और सुरक्षित कोष के बीच के अनुपात मे केवल परिवर्तन करके तथा बिना सोना प्राप्त किये हुए मुद्रा की मात्रा बढायी जा सकती है। इस प्रणाली को सभी देश अपना सकते है, क्योकि थोडे से स्वर्णकोष के द्वारा इस स्वर्ण-मान के लाभ प्राप्त हो सकते है। सोना छोटे-छोटे व्यक्तियो के पास रहने के स्थान पर सरकारी कोषागार मे रहता है, इसलिए और भी उपयुक्त माना जाता है। सोने के सिक्को के चलन मे रहने से कोई विशेष लाभ नही रहता। साधारण परिस्थिति मे लोग कागजी मुद्रा तथा धातु के छोटे सिक्को को लेना अधिक पसन्द करते हैं। केवल असाधारण परिस्थिति मे कठिनाई उत्पन्न होती है जो भी बहुत कम आती है। सोने का एक निश्चित प्रतिशत आड मे रहने के कारण जनता का विश्वास भी बना रहता है तथा स्वर्ण के राजकीय कोष मे रहने के कारण सार्वजनिक लाभो के लिए उसका प्रयोग किया जा सकता है।

इस दृष्टि से भी स्वर्ण-पाट-मान अधिक उपयुक्त है कि स्वर्ण-निधि मुद्रा-सचालक के पास रहती है इसलिए विनिमय दर की स्थिरता बनाये रखने के लिए वह अधिक लाभदायक होती है। यदि स्वर्णमान के नियमो का भली भाति पालन किया जाय तो सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता

नही पडती। जिस समय मुद्रा की माँग कम होती है तो लोग सोना खरीदते है तथा स्वर्ण-कोष मे कमी आ जाती है और मुद्रा की मात्रा कम हो जाने के कारण इसकी पूर्ति उसकी माँग के बराबर हो जाती है। सोना लोग उस समय बेचना आरम्भ कर देते है जब कि मुद्रा की माँग अधिक होती है। इससे स्वर्ण-कोष मे वृद्धि होती है और चलन बढ जाने के कारण पूर्ति मे बराबर सतुलन होता रहता है। विनिमय दर भी स्थिर रहती है। स्वर्ण-चलन-मान की भाति स्वर्ण-पाट-मान मे भी स्वय-सचालितता का गुण पाया जाता है।

दोष—स्वर्ण-चलन-मान के परित्याग के बाद इसी मान को अधिक उपयुक्त समझा गया, क्योकि इसमे सोने की इतनी अधिक मात्रा मे आवश्यकता नही पडती है। परन्तु यह मान भी दोष-रहित नही है। इस मान के निम्नलिखित प्रमुख दोष है।

(१) इस मुद्रा-मान मे स्वर्ण-चलन-मान की तुलना मे विश्वास कम रहता है। स्वर्ण-चलन-मान मे सोने के सिक्को का चलन होता है परन्तु इसमे कागजी मुद्रा तथा निम्नकोटि मुद्राओ का चलन होता है, जो कि स्वर्ण मे परिवर्तनशील अवश्य होती है परन्तु जनता का उतना अधिक विश्वास उनमे नही होता।

(२) इस मान को सकट काल तथा अन्य असाधारण परिस्थिति मे बनाये रखना कठिन ही नही बल्कि असभव-सा हो जाता है। इस प्रकार यह मान भी स्वर्ण-चलन-मान की भाति अनुकूल परिस्थितियो मे ही साथ देता है।

(३) धोखे तथा भूल की सम्भावना अधिक रहती है क्योकि सरकारी हस्तक्षेप अधिक होता है।

(४) सुरक्षित कोष मे सोना बेकार पडा रहता है तथा मुद्रा और साख-नियत्रण पर व्यय अधिक करना पडता है, इसलिए यह प्रणाली अधिक व्ययपूर्ण है।

(५) स्वर्ण-विनिमय-मान इस मान की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है तथा उसमे कम स्वर्ण-भडार से भी काम चलाया जा सकता है।

३ स्वर्ण-विनिमय-मान (Gold Exchange standard)

यह मान भी प्रथम महायुद्ध के बाद ही अपनाया गया था। भारत तथा अन्य देशो मे इस प्रकार का स्वणमान लगभग २०वी शताब्दी मे ही अपनाया गया है। इस प्रणाली के अन्तर्गत देश के चलन को किसी ऐसे देश के चलन मे परिवर्तित कराने का विश्वास दिलाया जाता है जो कि स्वर्ण मे परिवर्तनशील होता है, अर्थात मुद्रा-अधिकारी का यह उत्तर-दायित्व नही होता कि चलन की मुद्रा को स्वर्ण मे बदले। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय-मान मे स्वर्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता बल्कि देश की मुद्रा को एक ऐसे देश की मुद्रा से, एक निश्चित दर पर, सम्बन्धित किया जाता है जो कि स्वर्ण मे परिवर्तनशील होती है। इस तरह देश की मुद्रा को परोक्ष रूप से स्वर्ण मे बदला जा सकता है। देश की सरकार स्वय मुद्रा को स्वर्ण मे नही बदलती बल्कि विदेशी मुद्रा मे बदलती है जिसको बेचकर विदेशी केन्द्रीय बैंक से सोना प्राप्त किया जा सकता है। यह मान निर्धन देशो द्वारा ग्रहण किया जाता है। देश की सरकार नियत विनिमय दर पर विदेशी मुद्रा की मॉग पूरी करती है। कुछ देशो ने देश के भीतर स्वर्ण-कोष बिलकुल ही नही रखे थे। उन्हे अपनी समस्त स्वर्ण सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विदेशो के स्वर्ण-कोषो पर निर्भर रहना पडता था। कुछ देशो ने अपने सुरक्षित कोष विदेशी मुद्रा तथा विदेशी विनिमय-पत्र के रूप मे विदेशो मे रखे थे। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय-मान हमारे समक्ष दो रूपो मे आता है परन्तु दूसरा रूप केवल नाम मात्र का है। कुछ विद्वान् तो इसको स्वर्ण-विनिमय-मान मानने से सहमत ही नही है। इस प्रणाली को भारत सरकार ने सन् १९०० मे अपनाया था। भारतीय रुपये की विनिमय-दर १ शिलिंग ४ पेन्स थी तथा इसका सम्बन्ध ब्रिटिश पौण्ड से था। सन् १९१४ मे भारत सरकार को इस मान को बनाये रखने मे बडी कठिनाई उठानी पडी। किसी प्रकार यह मान १९१७ तक सफलतापूर्वक चलता रहा। १९१७ से १९२० तक स्वर्ण-विनिमय मान को स्थगित कर दिया गया था। सन् १९२० मे भारत सरकार ने २ शिलिंग पर इस मान को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु

सफलता प्राप्त नही हुई। चॉदी की कीमत मे भारी उतार-चढाव ही भारत मे स्वर्ण-विनिमय मान के सफल न होने का प्रमुख कारण था।

स्वर्ण-विनिमय-मान की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित है—

(१) देश मे स्वर्ण के सिक्को का प्रचलन नही होता है और न तो प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का और न परिवर्तनशील मुद्रा का ही। केवल अपरिवर्तन-शील मुद्रा का चलन होता है। निम्न धातुओ के सिक्के तथा साकेतिक मुद्रा भी चलन मे होती है।

(२) देश की प्रामाणिक मुद्रा का एक निश्चित दर पर किसी ऐसे देश की मुद्रा से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है जो कि स्वर्ण-चलन-मान तथा स्वर्ण-पाट-मान को अपनाये रहता है अर्थात् जिसकी मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तन-शील होती है। इस प्रकार देश की मुद्रा का स्वर्ण से परोक्ष रूप मे सम्बन्ध होता है।

(३) व्यावहारिक रूप मे सोना केवल विदेशी भुगतान के लिए दिया जाता है। वह भी विदेशी विनिमय के रूप मे। परन्तु सैद्धान्तिक रूप मे सरकार देश की पत्र-मुद्रा को एक निश्चित दर पर सोने अथवा विदेशी विनिमय मे बदलने की जिम्मेदारी लेती है।

(४) सोने का प्रयोग मूल्यमान तथा विनिमय मान माध्यम के रूप मे नही होता परन्तु कीमत-स्तर परोक्ष रूप से स्वर्ण द्वारा ही निश्चित होता है।

(५) विदेशो मे भुगतान सोने अथवा किसी स्वीकृत विदेशी मुद्रा के रूप मे लिये जाते है।

स्वर्ण-विनिमय-मान के लाभ—(१) यह मान बहुत ही मितव्ययी माना जाता है। क्योकि इसमे सोने का आयात-निर्यात नही होता, इसलिए इसके खर्चे बच जाते है। इसमे पैकिग, क्रय, यातायात तथा बीमा के व्यय सभी बच जाते हैं क्योकि सोना न तो बाहर जाता है और न बाहर से आता है। सोना सुरक्षित कोषो मे बेकार नही पडा रहता वरन् इसका अन्य उचित स्थानो पर प्रयोग होता है। सोने का सिक्का प्रचलन

मे नही होता, इसलिए घिसावट द्वारा भी नुकसान होने का भय नही रहता है।

(२) निर्धन देश भी इस मान को ग्रहण करके स्वर्णमान का लाभ प्राप्त कर सकता है। सोने की मात्रा का अधिक होना आवश्यक नही है। किसी शक्तिशाली देश के साथ, जिसने स्वर्णमान ग्रहण किया है, एक निश्चित दर पर सम्बन्ध स्थापित करके तथा उस पर नियत्रण करके विनिमय-दर मे स्थिरता लायी जा सकती है। परन्तु इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि विदेशी मुद्रा का चुनाव सावधानी से किया जाय ताकि विदेशी भुगतान मे किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पडे।

(३) देश की सरकार विदेशी विनिमय खरीदने तथा बेचने की दरो मे अन्तर रखकर लाभ कमा सकती है। देशी सरकार को केवल विदेशी विनिमय दर की स्थिरता पर ध्यान देना पडता है, स्वर्ण-मान सचालन सम्बन्धी कोई जिम्मेदारी नही होती। विदेशो मे जो निक्षेप रखे जाते है उनको विनियोजित कर दिया जाता है तथा इससे मिलने वाला ब्याज भी लाभ का एक साधन है।

स्वर्ण-विनिमय-मान के दोष—यह प्रणाली मितव्ययी तो अवश्य होती है परन्तु सदा यह भय बना रहता है कि सोने की सीमित मात्रा स्वर्णमान के सभी कार्यो को भली भाति चला सकेगी या नही। इसके अतिरिक्त इस मान की सबसे बडी कमी यह है कि एक सुरक्षित कोष पर कितने ही देशो की मुद्राएँ आधारित होती है। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित है।

(१) स्वर्ण-विनिमय-मान सफलतापूर्वक सचालित करने के लिए विदेशो मे प्रतिबन्ध की आवश्यकता पडती है। यह मितव्ययी तो अवश्य है परन्तु सकटकालीन परिस्थितियो की सभावना बहुत होती है। यदि आधारित देश स्वर्णमान का परित्याग कर देता है तो उससे सम्बन्धित सभी देशो की मुद्राओ की परिवतनशीलता अपने आप समाप्त हो जाती है।

(२) आधार-देश के पास स्वणकोष तो सीमित ही होता है परन्तु

उस पर और भी सम्बन्धित देशो का अधिकार होता है जिन्होने कि अपनी मुद्रा का सम्बन्ध उससे जोडा हो। इस प्रकार यह आधार-देश की मुद्रा-प्रणाली को भी असुरक्षित तथा सकटमय बना सकता है, क्योकि ऐसा हो सकता है कि अन्य देशो से मुद्रा की माँग इतनी बढ जाय कि आधार-देश की मुद्रा-प्रणाली का सचालन करना कठिन हो जाय।

(३) स्वर्ण-मुद्रा-मान तथा स्वर्ण-पाट-मान की भाति इस मान के अन्तर्गत तरल आदेयो का हस्तान्तरण उतनी सुगमता तथा सफलतापूर्वक नही किया जा सकता । इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सतुलन मे बाधा पडती है। विभिन्न देशो के बीच यदि समुचित तथा ठीक-ठीक साधनो का वितरण होता रहे तो आन्तरिक कीमतो मे स्थिरता तथा साम्य प्राप्त किया जा सकता है।

१९२५-२६ मे हिल्टन यग-आयोग भारत सरकार द्वारा नियुक्त किया गया था तथा इसने स्वर्ण-विनिमय-मान के व्यावहारिक सचालन की जाँच की थी। जाँच करने के पश्चात निम्नलिखित दोषो को इसने अपनी रिपोर्ट मे लिखा था।

(१) यह प्रणाली अत्यधिक सैद्धान्तिक है। साधारण जनता की समझ से बाहर है। यह बहुत ही जटिल प्रणाली है। मुद्रा-सचालक को जनता सदा शका की दृष्टि से देखती है। इस प्रणाली पर जनता का पूर्ण विश्वास प्राप्त करना कठिन है। इसकी जटिलता इसका सबसे बडा दोष है।

(२) स्वर्णमान के अन्य रूपो की भाति इसमे स्वय-सचालितता का गुण नही पाया जाता। अधिकाशत इसका सचालन मुद्रा की उपयोगिता पर निर्भर होता है।

(३) इस प्रणाली मे तीन प्रकार के कोष रखे जाते है—

सुरक्षित कोष अर्थात् स्वर्णमान-कोष, पत्र-मुद्रा-कोष तथा भारत सरकार की रोकड भारत तथा इग्लैन्ड दोनो देशो मे रखी जाती है। इस प्रकार इस प्रणाली मे कोषो की अधिकता का दोष पाया जाता है।

(४) देश मे चलन का विस्तार तो सरलतापूर्वक किया जा सकता

दूसरे कोषो को वह सोना दे देता है तो अमेरिकन कोष डालर लेकर उसके बदले मे इग्लैन्ड के कोष को उनकी कीमत का सोना दे देगा।

एक देश के कोष से दूसरे देश के कोष मे सोने का हस्तान्तरण होता रहता है, इसलिए ऐसी प्रणाली को स्वर्ण-निधि-प्रणाली के नाम से पुकारा गया है। इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह है कि ब्याज की दर मे किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना ही तथा देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप किये बिना ही विदेशी विनिमय दर का स्थायित्व प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रणाली का एक यह भी गुण होता है कि देश के चलन मे सोने की कीमत को निश्चित करने की कोई आवश्यकता नही होती। इस प्रणाली के प्रचलित रहने तक सोने के मूल्य मे स्थायित्व रहा। दूसरे महायुद्ध के पूर्व तक यह प्रणाली सफलतापूर्वक चलती रही परन्तु युद्ध-काल मे इसका चलना सभव न रह गया, क्योकि इस पद्धति के जीवन-काल मे सभी देशो ने इसके कार्यवहन को गुप्त रखा। इस प्रकार इस प्रणाली का अन्त हो गया।

हरशैल कमेटी[1]

रजत मान प्रणाली की कठिनाइयाँ सामने आने पर भारत सरकार ने १८९२ मे श्री हरशैल की अध्यक्षता मे एक कमेटी नियुक्त की, जिस को निम्नलिखित बातो पर पूर्ण रूप से विचार करके अपने सुझाव प्रस्तुत करने थे।

(१) क्या भारत सरकार को चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर देना चाहिए।

(२) क्या स्वर्णमान को स्थापित करके सोने के सिक्को का चलन किया जाय।

(३) क्या रुपये की स्टर्लिंग मे विनिमय दर घटा कर प्रति रुपया १ शिलिंग ६ पेन्स कर दी जाय। जाँच के पश्चात् समिति का यह विचार

1 Herschall Committee

हुआ कि भारत मे स्वर्ण के सिक्को का चालू करना आवश्यक नही और न तो उपयुक्त ही है। स्वर्ण के सिक्को को चलाये बिना भी स्वर्णमान को ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस बात की भी सभावना है कि कही इसको स्थापित करने से सोने मे चाँदी की कीमत और न गिर जाय। देश के व्यापार, उद्योग तथा आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव पडने के कारण १ शिलिंग ६ पेन्स की विनिमय दर भी अनुपयुक्त बतायी गयी।

कमेटी ने इन बातो पर विचार करके भारतीय मुद्रा-प्रणाली मे निम्नलिखित सुधार के लिए सुझाव भी दिये——

(१) चाँदी का स्वतन्त्र रूप से सिक्को मे ढाला जाना बन्द होना चाहिए, परन्तु सरकार अपनी टकसालो मे १ शिलिग ४ पेन्स प्रति रुपये की कीमत पर चाँदी के सिक्को को ढालने का कार्य सदा करती रहेगी और यही विनिमय दर स्थायी होनी चाहिए।

(२) रुपये को असीमित रूप से विधिग्राह्य घोषित कर देना चाहिए तथा सरकारी खजानो मे सभी प्रकार के लोक-दायित्व के भुगतान के लिए सोना इसी दर पर स्वीकार होना चाहिए।

कमेटी के सुझावो को कार्य रूप देने के लिए १८९३ मे एक नया ऐक्ट बनाया गया और १८८२ के पत्र-मुद्रा करेन्सी ऐक्ट मे कुछ सशोधन हुए। इनके परिणाम निम्नलिखित हुए।

(१) सोने और चाँदी दोनो का स्वतन्त्र टकन बन्द कर दिया गया। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि रुपये की विदेशी विनिमय दर ऊँची बनी रहे।

(२) रुपये को साकेतिक सिक्का भी बना दिया गया क्योंकि इसके मुद्रण का अधिकार केवल सरकार को ही था। इसका अकित मूल्य धातविक मूल्य से अधिक भी था।

(३) रुपये की विनिमय दर १ शिलिग ४ पेन्स रखी गयी। उसकी यह विनिमय दर चाँदी के मूल्य से प्रभावित नही होती थी।

(४) १५ रुपये की दर से सरकार को भुगतान मे सावरेन (गिनी) दी जा सकती थी।

(५) कलकत्ता तथा बम्बई की टकसालो को पत्र-मुद्रा के निर्गमन का अधिकार दिया गया तथा १ शिलिग ४ पेन्स की दर से पत्र-मुद्रा को स्वर्ण मे बदलने की व्यवस्था की गयी।

इस प्रकार से हरशैल कमेटी के सुझावो पर भारत सरकार ने अपूर्ण द्विधातुमान अपनाया। केवल चॉदी के सिक्के असीमित विधिग्राह्य थे। सोने की ढलाई जनता द्वारा नही की जा सकती थी।

चेम्बरलेन कमीशन

पूर्ण स्वर्णमान स्थापित करने के लिए सर हेनरी फाऊलर की अध्यक्षता मे फाऊलर कमेटी स्थापित की गयी। परन्तु कुछ कठिनाइयो के कारण स्वर्णमुद्रा मान के स्थान पर स्वर्ण-विनिमय मान ही स्थापित हुआ, जिसमे बहुत-सी त्रुटियाँ दिखाई देने लगी, इसलिए इस मौद्रिक मान की देश भर मे बहुत अधिक आलोचना होने लगी। इस आलोचना के आधार पर १९१३ मे श्री चेम्बरलेन की अध्यक्षता मे एक आयोग नियुक्त किया गया जिसे चेम्बरलेन कमीशन[1] कहते है।

इसके उद्देश्य निम्नलिखित थे ।

(१) भारत सरकार तथा सिक्रेटरी-आफ-स्टेट फार इण्डिया द्वारा किये गये उपायो की जाँच करना जो कि फाऊलर कमेटी के सुझावो के आधार पर भारत मे विनिमय दर स्थिर करने के लिए किये गये थे।

(२) स्वर्णमान के लिए जो सोना सचित किया जाता था उसकी जॉच करना ।

(३) उस समय प्रचलित प्रणाली की जॉच करना और यह मालूम करना कि यह प्रणाली उपयोगी है कि नही।

इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए चेम्बरलेन कमीशन ने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये ।

(क) इस कमीशन ने इस बात का सुझाव दिया कि भारत मे स्वर्ण-

1 Chamberlain Commission.

विनिमय मान को चालू रखा जाय। उसने यह भी सुझाव दिया कि देश मे सोने का प्रयोग अधिक करने की आवश्यकता नही, क्योकि भारत की जनता इसको कम चाहती है।

(ख) जब तक जनता मॉग न करे उस समय तक सोने के सिक्को को ढालने के लिए देश मे एक नयी टकसाल खोलने की आवश्यकता नही है, परन्तु अगर लोग इसकी मॉग करे तो ऐसी टकसाल स्थापित की जा सकती है। इसके साथ-साथ बम्बई की टकसाल को रुपया देकर बराबर सोना लेते रहना चाहिए।

(ग) स्वर्णमान के सचय की कोई भी अधिकतम सीमा निश्चित नही करनी चाहिए, बल्कि इस सचित निधि मे अधिक से अधिक सोना जमा रहना चाहिए और उसे लन्दन मे जमा रखना चाहिए।

(घ) पत्र-मुद्रा-प्रणाली के अधिक-से-अधिक लोचदार होने का सुझाव दिया गया और कहा गया कि नोटो के असचित भाग को १४ करोड रुपये कर देना चाहिए। इस बात के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए कि लोग स्वर्ण-मुद्रा के स्थान पर सोने का अधिक उपयोग करे।

(ङ) स्वर्णमान की चॉदी शाखा को बन्द कर देना चाहिए।

(च) भारत सरकार को इस बात की गारन्टी देनी चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर, मुख्य रूप से विनिमय दरो के गिरने की हालत मे वह १ शि० ३ पेन्स प्रति रुपये की दर पर भारत मे लन्दन के बिल बेचेगी।

चेम्बरलेन कमीशन के सुझाव भारत तथा इग्लैन्ड मे फरवरी सन् १९१४ मे प्रकाशित हुए, परन्तु जुलाई १९१४ मे युद्ध छिड गया। इस कारण सरकार इस कमीशन के अधिकाश सुझावो को कार्य रूप मे न ला सकी तथा व्यवसायो मे भारी अनिश्चितता और अस्थिरता आ गयी। विनिमय दर के पतन से इसके परिणाम सेविग बैक से जमा निकालने, कागज के नोटो को रुपयो के सिक्को मे अथवा सोने मे बदलने तथा भारत सरकार के स्वर्णकोष से सोना मॉगने के रूप मे प्रकट हुए। इन सब को रोकने के लिए सरकार ने बहुत से प्रयत्न किये परन्तु जब तक युद्ध रहा दशा खराब ही

होती गयी। शान्ति स्थापित होने पर सरकार ने एक दूसरी कमेटी बैठायी जिसका नाम बेविंगटन स्मिथ कमेटी[1] था।

इस प्रकार चेम्बरलेन कमीशन के सुझावो का यहाँ की मौद्रिक प्रणाली पर अथवा अन्य क्षेत्रो पर कोई प्रभाव नही पडा। यह एक सुझाव मात्र ही रह गया।

पत्र-मुद्रा प्रचलन—ऐतिहासिक तथ्यो के अनुसार पत्र-मुद्रा का आविष्कार सबसे पहले चीन मे हुआ और चीन ने ही ९वी शताब्दी मे हेसेनटु ग के राज्यकाल मे पत्र-मुद्रा प्रचलित की। इसके चालू करने का मुख्य ध्येय धातु की बचत था। पत्र-मुद्रा का प्रयोग लगभग १७वी शताब्दी तक होता रहा। चीन के बाद जापान और ईरान ने भी पत्र-मुद्रा चालू की। इस प्रकार १७वी शताब्दी के अन्तिम काल मे परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा चलती रही, परन्तु १८वी शताब्दी मे अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का भी चलन हुआ।

एशिया के बाद यूरोप आदि देशो मे भी पत्र-मुद्रा चालू की गयी। पत्र-मुद्रा को सबसे अधिक प्रोत्साहन प्रथम महायुद्ध काल मे मिला, जिसके परिणाम स्वरूप स्वर्णमान लगभग स्थगित कर दिया गया। उपयोगी लाभो के कारण इसको बहुत महत्वपूण स्थान दिया गया और द्वितीय महायुद्ध काल मे इसकी सख्या या विस्तार मे बहुत वृद्धि हो गयी। आधुनिक युग मे पत्र-मुद्रा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, क्योकि इसके लाभो से ससार भली भाँति परिचित है और इसमे पूर्ण विश्वास कर रहा है।

पत्र-मुद्रा के लाभ—(१) मितव्ययिता—पत्र-मुद्रा एक अत्यन्त मितव्ययी मुद्रा है। इससे धातु-प्रयोग मे बचत होती है और व्यय भी कम पडता है। इस प्रकार चलन से बचायी गयी धातु-मुद्रा विदेशी व्यापार आदि मे काम आती है।

(२) इसमे वहनीयता होती है। पत्र-मुद्रा ऐसी मुद्रा है जिसमे कागज के एक टुकडे पर सैकडो रुपये सन्निहित होते है। इस प्रकार धातु-मुद्रा के विपरीत इसमे बहुत कम भार होता है और भेजने मे कम खर्च

1 Babington Smith Committee 1919.

पडता है। व्यापारिक भुगतानो मे हम पत्र-मुद्रा का ही प्रयोग करते है।

(३) यह एक लोचदार मुद्रा-प्रणाली है। इसी कारण यह और भी महत्वपूर्ण है। किसी भी आवश्यक समय पर इसकी मात्रा मे बिना अधिक व्यय के वृद्धि की जा सकती है। यह लाभ धातविक मुद्रा से प्राप्त नही किया जा सकता, क्योकि किसी भी धातु की मात्रा निश्चित है और उसकी ढलाई इत्यादि मे व्यय अधिक होता है, इस कारण आवश्यकतानुसार इसमे पूर्ण रूप से घट-बढ नही की जा सकती है।

(४) पत्रमुद्रा से सरकार को लाभ होता है—इसके छापने मे सरकार का उत्पादन व्यय बहुत कम होता है और नोट पर अधिकाधिक मूल्य अकित किया जा सकता है। इस प्रकार उससे जो भी बचत होती है वह सरकार को अन्य कार्यो मे व्यय करने के लिए मिल जाती है।

पत्र-मुद्रा के दोष—पत्र-मुद्रा के अनेको लाभ होते हुए भी इसमे कई दोष भी है जिनसे गम्भीर हानियाँ होती है। पत्र-मुद्रा के प्रमुख दोष इस प्रकार हैं—

(१) पत्र-मुद्रा का सबसे बडा दोष यह है कि इसमे मुद्रा-प्रसार (मुद्रास्फीति) का डर रहता है। सरकार अपनी इच्छानुसार किसी भी सख्या मे इसे छाप सकती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी का दशा तो बहुत ही खराब हो गयी थी जिसका प्रभाव यह हुआ कि उसकी सारी अर्थ-व्यवस्था को बहुत बडा धक्का लगा। इसका प्रमुख कारण जर्मनी मे बढा हुआ मुद्रा-प्रसार ही था। भारत मे ही द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् कीमते इतनी बढ गयी कि उन कीमतो पर कन्ट्रोल लगाना पडा। इस-प्रकार पत्र-मुद्रा के प्रसार से भीषण आर्थिक सकट उत्पन्न होते है।

(२) पत्र-मुद्रा मे अविनाशिता नही है। नोटो के कटने-फटने आदि से उनके रखने वाले को हानि उठानी पडती है। तेल और इसी प्रकार के गहरे धब्बे पड जाने के कारण पत्र-मुद्रा के नम्बर की क्षति हो जाती है और वह बेकार हो जाती है।

(३) पत्र-मुद्रा एक निश्चित सीमा क्षेत्र तक ही मान्य है। पत्र-मुद्रा मे एक दोष यह भी है कि यह जिस देश की सरकार द्वारा

प्रचलित है उसी देश मे स्वीकार की जा सकती है। विदेशो मे यह मुद्रा नही स्वीकार की जा सकती।

(४) पत्र-मुद्रा का वास्तविक मूल्य कुछ भी नही होता, क्योकि कागज और छपाई का व्यय नाम मात्र का होता है और कोई भी व्यक्ति-पत्र मुद्रा को केवल सरकार के प्रति विश्वास पर ही स्वीकार करता है।

(५) कागजी नोटो का मूल्य साधारणतया बहुत अनिश्चित और अस्थिर होता है। पत्र-मुद्रा मे थोडे समय मे अधिक घट-बढ होने के कारण इसके मूल्य मे अकस्मात् घोर उच्चावच हो सकता है। पत्र-मुद्रा के घटने-बढने से विदेशी विनिमय दर पर भी बहुत बुरा असर पडता है। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी मे पत्र-मुद्रा का मूल्य बिलकुल गिर गया था जिसके कारण जनता मे बडा असतोष फैला।

(६) कागजी नोटो द्वारा सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। कागजी मुद्रा और साख मुद्रा की मात्रा की अनियमितता और अनिश्चितता के कारण पूँजी-वादी देशो मे व्यापारचक्रो का जन्म होता है। इसी कारण कभी-कभी पत्र-मुद्रा एक सामाजिक धोखा कहा जाता है।

पत्र-मुद्रा के उपरिलिखित गुण एव दोषो को देखकर यह निर्णय करना है कि दोष मनुष्य के प्रयोग करने मे हे या पत्र-मुद्रा मे। यह बात ठीक है कि पत्र-मुद्रा का वास्तव मे कोई मूल्य नही होता, परन्तु जहॉ तक मुद्रा प्रसार और सट्टे का सवाल है यह तो सरकार के नियत्रण से दूर हो सकता है। इस प्रकार इसके उचित नियन्त्रित उपयोग से देश को सम्पन्न किया जा सकता है।

पत्र-मुद्रा का वर्गीकरण—कागजी मुद्रा को दो बडे भागो मे विभाजित किया जा सकता है—पत्र-मुद्रा चलन और पत्र-मुद्रा मान।

पत्र-मुद्रा-चलन का अध्ययन पिछले पृष्ठो मे किया जा चुका है। अब हम पत्र-मुद्रा-मान का पूर्ण अध्ययन करेगे। पत्र-मुद्रा-मान मे मुद्रा का आधार पत्र हुआ करता है। देश का प्रामाणिक द्रव्य अपरिवर्तन-शील पत्र-मुद्रा होती है।

पत्र-मुद्रा-मान—पत्र-मद्रा के ही प्रामाणिक होने के कारण सरकार या मुद्रा सचालक किसी भी प्रकार मुद्रा के बदले सोना या कोई अन्य धातु देने का जिम्मेदार नही है। १९२९ के महान् अवसाद के बाद ससार के बहुत से देशो ने स्वर्णमान छोडकर पत्र-मुद्रा-मान अपना लिया। इस प्रकार पत्र-मुद्रा का विनिमय-माध्यम और अन्य सभी कार्यो मे प्रयोग किया जाने लगा। इस मान की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है—

(१) पत्र-मुद्रा देश मे प्रामाणिक एव अपरिमित विधिग्राह्य तथा अपरिवर्तनशील होती है। (२) पत्र-मुद्रा का मूल्य स्वतन्त्र रूप से निश्चित होता है। स्वर्ण या अन्य कोई धातु द्वारा उसका मूल्य नियत नही किया जाता। इस प्रकार इसको बदलने की कोई व्यवस्था नही होती। (३) पत्र-मुद्रा-मान मे वस्तुओ के मूल्य को स्थिर करने के लिए देश का मुद्रा-सचालक चलन के नियम और प्रबन्ध करता है। इस प्रकार इस मान मे मूल्य की स्थिरता, मुद्रा की माँग और पूर्ति समान रखकर की जाती है। (४) इस मुद्रा-मान मे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो के लिए सोने की आवश्यकता तो जरूर पडती है परन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना से ऋणो के भुगतान मे सोने की आवश्यकता नही रही।

पत्र-मुद्रा-मान के गुण—सन् १९२९ के आर्थिक सकट से बहुत से देशो ने स्वर्णमान छोडकर पत्र-मुद्रा मान को ग्रहण किया। भारत मे १९३१ मे स्वर्णमान का अन्त होने के बाद स्टर्लिग-विनिमय मान स्थापित हुआ, भारतीय पत्र-मुद्रा ब्रिटिश पौड, स्टर्लिंग मे परिवर्तित की जाती थी। परन्तु अब पौड स्वय पत्र-मुद्रा बन गया तो भारत मे भी स्वत पत्र-मुद्रा-मान स्थापित हो गया। इस मुद्रा-प्रणाली मे कुछ गुण हे जो इस प्रकार है—

१ मूल्य-स्थिरता—मुद्रा-चलन अधिकारी या केन्द्रीय बैक आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा मे कमी-बेशी कर सकता है और मूल्यो मे स्थिरता ला सकता है। इस प्रकार मुद्रा-अधिकारी को किसी प्रकार की स्वर्णनिधि रखने की आवश्यकता ही नही रहती।

२ मुद्रा-मान प्रणाली के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता—पत्र-मुद्रा-मान मे

मुद्रा किसी धातु पर आश्रित नही होती, इस कारण मुद्रा-अधिकारी मुद्रा-प्रणाली के प्रबन्ध मे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहता है और आवश्यकता के अनुसार प्रबन्ध करता है।

३ पत्र-मुद्रा मान मे शक्तियो का पूर्ण उपयोग होता है। पत्र-मुद्रा मान के पूव स्वर्णमान पद्धति मे मुद्रा-सकोचन की सम्भावना होती थी, जिस से देश की सन्निहित शक्तियो का पूर्ण उपयोग नही हो पाता था और बेरोजगारी बढती थी। परन्तु पत्र-मुद्रा मान मे प्रत्येक देश मे मुद्रा-अधिकारी मुद्रा-नीति ऐसी रखता है कि देश मे उत्पत्ति के साधनो का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है और बेरोजगारी दूर हो सकती है।

पत्र-मुद्रा-मान के दोष—पत्र-मुद्रा-मान के उपर्युक्त लाभो के अतिरिक्त उसमे आलोचको ने अनेक दोष भी बताये है। उनमे से मुख्य दोष इस प्रकार है—

१ इसमे मुद्रा-प्रसार का भय रहता है—पत्र-मुद्रा-मान मे किसी भी प्रकार की निधि इसके निकास के पीछे नही रहती है, इसलिए इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि सकट काल मे या अन्य किसी भी आवश्यकता के समय अधिकाधिक मुद्रा का प्रचलन कर दिया जाय। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति की दशा आ जाने से देश मे वस्तुओ की कीमते बढ जाती है और जनता का मुद्रा मे विश्वास खत्म होने लगता है।

२ पत्र-मुद्रा मान मे देश की आन्तरिक कीमतो के दबाव के अनुसार विदेशी विनिमय दर पर भी प्रभाव पडता है। पत्र-मुद्रा-मान मे विदेशी विनिमय दरो मे असीमित उच्चावच हो सकता है। इसी कारण देश को विदेशी व्यापार मे अनेक अडचने उठानी पडती है, जिन से छुटकारा पाने के लिए विनिमय-नियत्रण-नीति अपनायी जाती है।

३ देश की आर्थिक स्थिति का अन्य देश पर प्रभाव—पत्र-मुद्रा-मान मे स्वर्णमान के अनुसार एक देश की आर्थिक स्थिति का प्रभाव दूसरे देश पर पडता है। परन्तु यह उसी समय होगा जब कि अन्य पत्र-मुद्रा मान के देश अपने व्यापार मे स्वतन्त्र हो—लेकिन सामान्यतया देखा जाता है कि पत्र-मुद्रा मान के देशो मे विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध भी होते हैं जिससे यह दोष कुछ अधिक प्रभावपूर्ण नही होता।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की स्थापना ने ससार मे पत्र-मुद्रा-मान के देशो मे विदेशी पूंजी के आवागमन को आसान बना दिया है। इस आसानी के लिए द्वितीय महा-युद्ध के बाद १९४४ मे ब्रेटन उड्स कानफ्रेन्स मे एक योजना के अन्तर्गत इन दो सस्थाओ—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक की स्थापना की गयी, जिनके कई उद्देश्य है। अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो मे स्थिरता लाने के लिए प्रत्येक देश के चलन का मूल्य सोने मे आंका जाता है और इसी आधार पर विदेशी विनिमय होता है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो मे स्थिरता लायी जाती है। विदेशी विनिमय मे स्थिरता लाना, सदस्य राष्ट्रो की आर्थिक उन्नति मे सहयोग दान करना, विदेशी पूंजी के आवागमन मे सहायता देना, अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो को प्रोत्साहन देना और उनकी मात्रा बढाना आदि इनके अन्य उद्देश्य है। इस प्रकार इस कानफ्रेन्स द्वारा पत्र-मुद्रा-मान के प्रमुख दोषो को बहुत हद तक दूर किया जा सकता है।

नोट निर्गमन के सिद्धान्त—पत्र-मुद्रा के गुण-अवगुण का विवेचन करने के बाद हम अब नोट निकास सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे। नोट निकास के सम्बन्ध मे दो विपरीत विचारधाराएँ है। दोनो के समर्थक अपनी-अपनी धारणाओ की पुष्टि करते है। इन सिद्धान्तो को चलन सिद्धान्त तथा बैंकिग अथवा अधिकोषण सिद्धान्त का नाम दिया जाता है। दोनो सिद्धान्तो मे आधारभूत भिन्नता है, इसलिए किसी निष्कष पर पहुँचने के लिए दोनो सिद्धान्तो का भली भाँति अध्ययन जरूरी है।

(१) **चलन या मुद्रा सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के मानने वालो के अनुसार कागजी मुद्रा का निगमन केवल बहुमूल्य धातुओ के लिए स्थानापन्न मुद्रा के उद्देश्य से होता है, परन्तु परिवर्तनशीलता एव सुरक्षा की दृष्टि से १०० प्रतिशत सोने या चाँदी की आड या आधार होना आवश्यक है ताकि जनता जब चाहे कागजी मुद्रा के बदले सोना-चाँदी ग्रहण कर सके। इस सिद्धान्त के अनुसार स्वर्ण के आगमन या निगमन के अनुकूल ही मुद्रा की सख्या घटती बढती रहेगी। इस प्रकार मुद्रा-अधिकारी अपनी इच्छा-

नुसार पत्र-मुद्रा की मात्रा घटा-बढा नही सकते। अत मुद्रा मात्रा कोष के अनुसार स्वत घटती बढती रहती हे।

चलन या मुद्रा सिद्धान्त के गुण—(क) सुरक्षा—चलन सिद्धान्त के गुणो मे सुरक्षा सब से अधिक महत्वपूर्ण है। चलन मिद्धान्त मे १०० प्रतिशत सोने आदि के आधार पर ही मुद्रा-निकासी की जाती हे। इस प्रकार इसमे सुरक्षा का गुण पाया जाता है। क्योकि इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का चलनाधिक्य नही हो सकता।

(ख) जनता का विश्वास—चलन सिद्धान्त के अनुसार प्रचलित मुद्रा के लिए उसके मूल्य के बराबर बहुमूल्य निधि का आधार होना जरूरी ह। इस प्रकार ये नोट सर्वदा परिवर्तनीय होते है। इसलिए इस सिद्धान्त के आधार पर निर्गमित पत्र-मुद्रा मे जनता पूर्ण रूप से विश्वास करती है।

चलन सिद्धान्त के अवगुण—उपर्युक्त गुणो के होते हुए भी इस सिद्धान्त मे दोष भी है, जिनको अधिकोषण सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले बैंकिंग सिद्धान्त का आधार बनाते है। दोष निम्नलिखित है।

(क) लोच का अभाव—चलन सिद्धान्त के अनुसार निर्मित मुद्रा प्रणाली मे लोच का अभाव होता है। इस अप्रास्यता का कारण यह है कि व्यापारिक आवश्यकता के अनुसार मुद्रा की मात्रा नही बढायी जा सकती, क्योंकि मुद्रा के अकित मूल्य के बराबर ही निधि का आधार होना आवश्यक है।

(ख) उपर्युक्त दोष के आधार नर दूसरा दोष इस प्रकार है कि यह एक अमितव्ययी सिद्धान्त है, क्योकि सोने के सिक्को की जगह परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा निगमित की जाती है जिसके पीछे १०० प्रतिशत सोने आदि की आड होती है।

(२) **बैंकिग सिद्धान्त**—यह चलन-सिद्धान्त के विपरीत है इसको कभी-कभी लोच सिद्धान्त भी कहते है। बैंकिग सिद्धान्त का आधार इस बात पर है कि व्यापारिक आवश्यकताएँ जब भी बाध्य करे मुद्रा के प्रसार और सकोचन को नियमित रखा जा सके। यह लोच उसी समय हो सकती है जब कि देश मे बहुत अधिक स्वर्ण हो या फिर देश मे

अधिकोषण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा-निर्गमन हो। व्यावहारिक जीवन मे देखा जाता है कि चलन सिद्धान्त के अनुसार १०० प्रतिशत धरोहर या निधि स्वर्ण की आड लेकर होती है। किंतु बहुत थोडे अनुपात मे जनता मुद्रा के बदले स्वर्ण लेने आती है। इसलिए यदि इस आड या आधार के स्वर्ण की मात्रा मे कमी हो जाय तो भी जनता का विश्वास मुद्रा पर रहेगा। इसलिए रक्षित निधि को १०० प्रतिशत से कम कर दिया जाता है। अत बैंकिग सिद्धान्त यह बताता है कि पत्र-मुद्रा की निर्गमन मात्रा के बराबर सोने चाँदी की निधि नही रखनी चाहिए। बल्कि केन्द्रीय बैंक को इसकी स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह देश मे यथेष्ट मुद्रा निर्गमित करे और उसके पीछे यथेच्छ निधि रखे। इस प्रकार मुद्रा-प्रणाली पूर्ण रूप से लोचदार रहेगी और साख का पूरा लाभ उठाया जा सकेगा।

बैंकिग सिद्धान्त के गुण—बैंकिग सिद्धान्त के उपर्युक्त विवेचन से पाठक को यह अवश्य प्रतीत होगा कि चलन सिद्धान्त के विपरीत होने के कारण बैंकिग सिद्धान्त मे वही गुण है जो कि चलन सिद्धान्त के अवगुण है। इसलिए अब हम बैंकिग सिद्धान्त के गुणो की विवेचना करेंगे।

१ लोचदार पत्र-मुद्रा निर्गमन के लिए बैंकिग सिद्धान्त नितान्त उपयुक्त सिद्धान्त है, क्योकि इस पद्धति के अनुसार निगमित मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत निधि नही रखनी पडती। इसलिए, कम निधि रखकर अधिक मात्रा मे आवश्यकतानुसार मुद्रा निर्गमित की जा सकती है जिससे देश को लाभ होगा। इस प्रकार नोटो की परिवर्तनशीलता कायम रहेगी और जनता को उस पर विश्वास भी रहेगा।

२ कागजी मुद्रा के निकास के लिए अधिकोषण सिद्धान्त यह बात प्रतिपादित करता हे कि मुद्रा पर १०० प्रतिशत निधि न रखी जाय। इसलिए पत्र-मुद्रा के अकित मूल्य और निधि मे जो अन्तर होगा वह अन्य व्यापारिक कार्यो मे खर्च किया जा सकता है। इस प्रकार बहुमूल्य धातुओ के उपयोग मे बहुत बचत होती है।

बैंकिग सिद्धान्त के दोष—बैंकिग सिद्धान्त के उपर्युक्त गुण होते

हुए भी उसमे अवगुण पाये जाते है जिनके आधार पर उसकी आलोचना होती है। यथा—

१ निर्गमनाधिक्य का भय—बैंकिंग सिद्धान्त मे चूँकि १०० प्रतिशत निधि नही रखी जाती इसलिए इसके अनुसार कम निधि रखकर केन्द्रीय बैंक जब चाहे मनमानी सख्या मे पत्र-मुद्रा निर्गमित कर सकता है। जिससे देश मे पत्र-मुद्रा का चलनाधिक्य हो सकता है और देश आर्थिक सकट मे पड सकता है।

२ सुरक्षा की कमी—चलन या मुद्रा सिद्धान्त के प्रतिकूल होने की वजह से इसमे सुरक्षा कम हो जाती है। आधुनिक समय मे यह बिलकुल स्पष्ट हो गया है कि दोनो सिद्धान्तो मे कौन-सा सिद्धान्त व्यापारिक दृष्टिकोण से अच्छा है। बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर ही मुद्रा-प्रणाली का निर्माण उपयुक्त है क्योकि ऐसी प्रणाली मे जनता के विश्वास और लाभ दोनो की सतोषजनक व्यवस्था की जाती है। बैंकिंग सिद्धान्त के अपनाने से कम निधि रखी जाती है। इस प्रकार इसको चलन सिद्धान्त के विपरीत लोचपूर्ण बनाया जाता है। इसी कारण से बैंकिग सिद्धान्त को ससार के अधिकाश राष्ट्रो ने अपनाया है। इग्लैंड मे १८४४ मे चलन सिद्धान्त, बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार, अपनाया गया था परन्तु बाद की हालत मे बैंकिग सिद्धान्त ही सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दृष्टि-कोण मे उपयुक्त सिद्ध हुआ। १९वी शताब्दी के अन्तिम समय मे इग्लैन्ड की प्रगति धनादेश-विधि को अपनाने के कारण ही हुई थी जिसके कारण बैंक चार्टर ऐक्ट १८४४ के अनुसार अपनाये गये सिद्धान्त की बुराइयो को दूर किया गया।

परन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि चलन सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वालो ने मिश्रित पूजी वाले बैंको के इतिहास के कारण ही ऐसा किया था, क्योकि बिना सतोषजनक निधि के ही उन्होने नोट छापे थे जिसके कारण मुद्रा-स्फीति का सामना करना पडा था।

नोट निकास पद्धतियाँ—नोट निर्गम सिद्धान्तो की पूर्ण विवेचना करने के बाद अब नोट निर्गम की विधियो का विचार भी आवश्यक है,

ताकि यह पता चल सके कि पत्र-मुद्रा निर्गम की कौन-कौन-सी विधियाँ है तथा इनको किस प्रकार सुव्यवस्थित किया जा सकता है। नोट निर्गम की रीतियाँ इस प्रकार हैं—

(१) निश्चित असुरक्षित नोट चलन पद्धति—जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, यह विधि १८४४ के बैंक चार्टर ऐक्ट के अनुसार इग्लैन्ड मे अपनायी गयी। भारत मे भी १८६१ से १९२० के बीच इस प्रणाली को अपनाया गया, परन्तु इसमे कोई विशेष लाभ नही हुआ और यह अलोचदार प्रणाली थी। इग्लैन्ड के अलावा भारत, इटली, जापान, फिनलैन्ड और नार्वे ने भी इसे अपनाया था।

इस पद्धति मे केन्द्रीय बैंक या मुद्रा-सचालक को इस बात का अधिकार दिया जाता है कि वह एक निश्चित मात्रा तक मुद्रा का बिना किसी निधि के निर्गम कर सकता है, परन्तु इस मात्रा के बाद हर नोट पर १०० प्रतिशत निधि रखना आवश्यक है।

इन विधि मे दो गुण है—(क) इस रीति मे सुरक्षा का गुण पाया जाता है अर्थात् इसमे पत्र-मुद्रा के बदले सोना मिलना निश्चित होता है। कुछ नोट ऐसे भी होते है जिनको बदला नही जा सकता परन्तु सभी नोट कभी भी बदलने के लिए नही आते। इसलिए इस विधि मे परिवर्तन-शीलता अवश्य पायी जाती है।

(ख) मुद्रा-स्फीति का भय नही होता—इस चलन विधि मे चलनाधिक्य पर रोक रहती है, क्योकि निर्धारित सीमा से जितने अधिक नोटो की निकासी की जाती है उतनी ही कीमत का सोना या ऐसी बहुमूल्य धातु की निधि रखी जाती है। इसलिए न इतनी अधिक धातु-निधि होगी और न अधिक मुद्रा छापी जा सकेगी। 'निश्चित असुरक्षित नोट चलन विधि' के उपर्युक्त गुण होते हुए भी इसमे दो अवगुण है—

१ लोच का अभाव इस विधि का मुख्य दोष है। मुद्रा की सख्या आवश्यकतानुसार बढाने के लिए सीमा-विशेष के बाद १०० प्रतिशत निधि आवश्यक होती है। आर्थिक सकट या ऐसे ही जरूरत के समय मे सोने

के न होने के कारण किसी भी आवश्यकता के अनुकूल मुद्रा निर्गमित नही की जा सकती है।

२ अलोचता के अतिरिक्त यह एक व्ययपूर्ण विधि है। इस विधि को केवल उसी देश मे सफलता मिल सकती है जिसमे सोने की मात्रा बहुत अधिक हो। दूसरे उस देश मे यह रीति सफल हो सकती है जिसमे साख का अधिक प्रचार हो और मुद्रा-निर्गमन की अधिक मात्रा की आवश्यकता न हो। भारत मे चलन के लिए समय-समय पर इतनी अधिक माँग हुई कि १०० प्रतिशत निधि नही रखी जा सकी, इसलिए यह १९२० मे छोड दी गयी। इन्ही कारणो से मैकमिलन कमेटी ने इस रीति को छोडने का सुझाव दिया था।

(२) अधिकतम असुरक्षित नोट चलन की पद्धति—मैकमिलन कमेटी के सुझाव के अनुसार यह रीति इग्लैन्ड मे अपनायी गयी। फ्रास मे यह रीति १८७० से १९२८ तक प्रचलित रही। इस रीति के अनुसार सरकार या मुद्रा-सचालक मुद्रा-निर्गमन के लिए एक सीमा-विशेष निर्धारित कर देता है और उस निर्धारित सीमा की सख्या तक बिना निधि रखे ही मुद्रा-निकास अधिकारी मुद्रा निर्गमित कर सकता है। परन्तु इस सीमा के बाद निधि रखना आवश्यक है। इसी लिए इस रीति मे यह अधिकतम सीमा लोचता के लिए घटायी-बढायी जाती रहती है।

उपर्युक्त वर्णन से इस पद्धति के कुछ गुणो का पता चलता है जिनका विश्लेषण इस प्रकार है—

क स्वर्ण का सदुपयोग—इस रीति का सबसे बडा गुण यही है कि इस पद्धति मे स्वर्ण को बेकार बन्द नही रखा जाता है। फिर भी जनता मे विश्वास लाने के लिए मुद्रा-अधिकारी एक निश्चित निधि रखता है, लेकिन वह उतनी नही होती जितनी कि किसी अन्य पद्धति मे होती है।

ख यह एक लोचपूर्ण पद्धति है—इस पद्धति मे वाणिज्य एव व्यापार के अनुसार मुद्रा की अधिकतम निर्धारित सीमा घटायी-बढायी जा सकती है। इस प्रकार जब कभी जितनी आवश्यकता होगी उतनी ही मुद्रा निर्गमित की जायगी और चलनाधिक्य का भय नही रहेगा। इन गुणो

का मतलब यह नही है कि इस रीति मे दोष नही है। यदि बिना सोचे समझे मुद्रा छापी गयी तो चलनाधिक्य हो जायगा, और यदि नियन्त्रित रूप से छापी गयी तो यह लाभदायक प्रणाली सिद्ध होगी।

(३) आनुपातिक निधि-पद्धति—इस प्रणाली मे जितना भी मुद्रा का निर्गमन किया जाता है उसका एक निर्धारित प्रतिशत अश स्वर्ण अथवा रजत की निधि मे रखा जाता है। साधारणतया यह आनुपातिक प्रतिशत २५ से ४० प्रतिशत होता है। इस पद्धति को फ्रास ने, १९२८ मे अधिकतम असुरक्षित नोट चलन का त्याग कर, अपनाया। भारत मे रिजर्व बैंक आफ इन्डिया ऐक्ट मे हिल्टन यग कमीशन के सुझाव के अनुसार इस प्रणाली को अपनाया गया। इसमे कोष की प्रतिशत मात्रा सरकार की आज्ञा से कम-ज्यादा की जा सकती है। इस प्रकार इस रीति को बैंकिग या अधिकोषण सिद्धान्त पर अवलम्बित समझा जाता है।

इस प्रणाली का सबसे बडा गुण इसकी लोचता है। इस मुद्रा-चलन प्रणाली के अनुसार चलन अधिकारी जितनी सख्या मे चाहे आवश्यकता-नुसार मुद्रा छाप सकता है। अर्थात् थोडे कोष से अत्यधिक मुद्राओ का निर्गमन किया जा सकता है। मान ले, यदि बैंक या मुद्राधिकारी नोट के बदले एक सिक्का दे देता है तो उसको उस सिक्के के बदले दो या तीन (पूर्ण अनुपात के अनुसार) नोट चलन से निकालने पडते है। इस प्रकार जितना अधिक स्वर्ण या उसका सिक्का होगा उतने ही अधिक अनुपात मे नोट छापे जा सकते है।

इस प्रणाली का दोष सोने का बेकार बँधा रहना भी गिना जाता है, जिसको विशेषत कीन्स महोदय ने बताया है। इसी प्रकार यह प्रणाली मुद्रा-प्रसार को प्रोत्साहन देकर मुद्रा-सकोचन को हतोत्साहित करती है। मुद्रा का आवश्यकता से भी अधिक निर्गमन किया जा सकता है परन्तु मुद्रा-सकोचन मे अथवा जब अधिक मुद्रा की आवश्यकता न हो तब उसका चलन रोकना बडा मुश्किल हो जाता है, अर्थात् नोटो का प्रचलन उसी समय बन्द हो सकता है जब वे वापस ले लिये जायँ। इस प्रकार रक्षित निधि का सर्वदा पालन नही हो सकता।

(४) न्यूनतम स्वर्ण-निधि की आनुपातिक पद्धति—यह रीति आनुपातिक निधि पद्धति की बदली हुई शकल है। इस पद्धति मे भी पत्र-मुद्रा की कुल सख्या का एक निश्चित प्रतिशत स्वर्ण या रजत निधि रूप मे रखा जाता है। परन्तु धातु रूप मे जो निधि रखी जाती है वह कुल नोट का एक न्यूनतम भाग होती है और निश्चित निधि का जो भाग बचता है वह विदेशी साख-पत्रो, विदेशी बैंको की हुन्डियो एव विनिमय विपत्रो के रूप मे रखा जाता है। इस प्रणाली मे जो निधि सोने-चाँदी के रूप मे रखी जाती है वह निश्चित रहती है और उसमे किसी भी प्रकार की कमी नही आने पाती।

यह पद्धति विशेषत सोने की बचत के लिए अपनायी गयी, क्योकि निश्चित निधि का एक न्यूनतम भाग स्वर्ण मे रखा जाता है। इस रीति मे आनुपातिक निधि पद्धति के ही अनुकूल लोचता और मितव्ययिता पायी जाती है।

(५) साधारण जमा पद्धति—इस रीति मे नोट-निर्गमन अधिकारी को नोटो की कीमत के बराबर सोना चाँदी एक कोष मे जमा रखना होता है। इस प्रकार इस रीति के अनुसार १०० प्रतिशत निधि रखी जाती है और यह प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के रूप मे नोटो का निर्गम करती है।

१०० प्रतिशत निधि होने के कारण इसमे जनता का विश्वास होता है। मुद्रा प्रसार का किसी भी दशा मे डर नही होता। परन्तु १०० प्रतिशत निधि रखने से देश का सोना बेकार करना पडता है। इस रीति मे लोच बिलकुल नही है। यदि देश मे आवश्यकता हो तो अधिक मुद्रा छापी नही जा सकती क्योकि सोने की मात्रा निश्चित होती है। यही कारण है कि यह पद्धति मान्य नही है।

(६) सरकारी बाड जमा-पद्धति—यह पद्धति सरकारी साख-पत्रो एव कोषागार-विपत्रो के आधार पर भारत मे १९०२ मे अपनायी गयी, परन्तु विदेशी विनिमय सकट काल के कारण इसको १९०५ मे त्याग दिया गया। इसके बाद अमेरिका ने १९१३ तक इसको अपनाया था। इस पद्धति मे धातुकोष की जगह सरकारी साख-पत्र इत्यादि नोट-निर्गमन

के लिए निधि के रूप मे रखे जाते है। ये सरकारी कोषागार-विपत्र आदि प्रतिभूति रूप मे बैको द्वारा रखे जाते है जिनके मूल्य के बराबर बैक नोट जारी कर देते है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस पद्धति मे १०० प्रतिशत जमा रखी जाती है। इस प्रकार यह एक बेलोच मुद्रा-निर्गमन पद्धति है—लेकिन इसका गुण यह है कि इस रीति मे चलनाधिक्य का डर नही रहता।

बेविगटन स्मिथ कमेटी

पहली लडाई समाप्त हो जाने के बाद भी विश्व मे युद्धकालीन परिस्थितियाँ बनी रही। युद्ध-कार्यो के लिए भारतीय माल की माँग अधिक न रह गयी, फिर भी शान्तिमय वातावरण स्थापित हो जाने से भारतीय माल की माँग कुछ हद तक बढती रही। इस प्रकार एक अश तक व्यापार सतुलन भारत के अनुकूल रहा। नोटो को चाँदी मे बदलने के लिए कठिनाई होती थी। क्योकि चाँदी की कीमत बराबर बढती जा रही थी। इन सब कार्यो की जाँच करने के लिए भारत सरकार ने एक समिति नियुक्त की। इस समिति के अध्यक्ष सर हेनरी बेविगटन स्मिथ थे इसलिए समिति का नाम बेविगटन स्मिथ कमेटी पडा।

कमेटी का कार्य—(१) व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार चलन मे हेर-फेर के लिए समय-समय पर सुझाव देना, (२) स्वर्ण-विनिमय मान की स्थिरता के सम्बन्ध मे अपनी राय प्रकट करना और (३) युद्ध का भारतीय चलन तथा विनिमय पर क्या प्रभाव पडा है उसको देखना था।

इस समिति के मुख्य सुझाव इस प्रकार है—

(१) समिति ने १ रुपया = २ शिलिग की विनिमय दर को स्थिर रखने का सुझाव दिया। समिति का विचार था कि यदि सोने मे २ शिलिग के बराबर विनिमय दर रखी जाय तो कोई लाभ नही होगा। समिति ने अनुमान लगाया था कि अभी कई वर्ष तक चाँदी की कीमत ऊँची ही रहेगी। इसके अतिरिक्त इस विनिमय दर से अन्य लाभ भी थे, यथा—

(क) विनिमय दर ऊँची रहने से कीमत के ऊपर उठने की प्रवृत्ति रुक जायगी जिससे गृह-व्यय मे बचत होगी।

(ख) ऊँची दर से भारतीय व्यापार के घटने का भय नही होगा, क्योकि भारतीय कच्चे माल तथा खाद्य पदार्थो की ससार मे अधिक मॉग है, इसलिए ऊँची दर होने के कारण भारतीय निर्यात का देश को अधिक मल्य मिलेगा। समिति ने यह स्पष्ट कर दिया था कि विदेशी इस ऊँची दर से माल नही उठा सकेंगे, क्योकि युद्ध-विध्वस के कारण उनके माल का उत्पादन-व्यय अपेक्षाकृत अधिक रहेगा। अत उपर्युक्त तर्क के आधार पर समिति ने इस बात का सुझाव दिया कि विनिमय दर स्वर्ण मे २ शिलिग बनी रहे।

(२) रुपया पहले की तरह रहना चाहिए, अर्थात् शुद्धता और तोल वही होनी चाहिए और वह असीमित-विधि-ग्राह्य भी रहना चाहिए।

(३) सावरेन (गिनो) के बदले मे रुपये देने की सरकारी जिम्मेदारी बन्द होनी चाहिए। भारत मे सावरेन असीमित-विधि-ग्राह्य रहनी चाहिए तथा इसकी विनिमय दर १० रुपया प्रति सावरेन होनी चाहिए।

(४) भारत मे स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्र रहना चाहिए तथा सरकारी नियत्रण समाप्त होना चाहिए।

(५) तट-कर को समाप्त कर देना चाहिए जिससे चॉदी के निर्यात परं रोक तथा आयात को प्रोत्साहन मिले।

(६) स्वर्ण से सावरेन ढलवाने के लिए बम्बई मे जनता द्वारा एक टकसाल खोली जानी चाहिए।

(७) स्वर्णकोषो का लगभग आधा भाग भारत मे रखा जाय तथा शेष भाग लन्दन मे रहना चाहिए। रिजर्व मे सोने की मात्रा अधिक होनी चाहिए।

(८) भारतीय मुद्रा प्रणाली मे लोच उत्पन्न करने के लिए देश मे आनुपातिक निधि प्रणाली अपनायी जानी चाहिए।

(९) एक सीमित समय तक के लिए अरक्षित मुद्रा का प्रकाशन १२० करोड रुपये तक होना चाहिए। यदि मुद्रा की मॉग बढ जाय तो

निर्यात बिलो पर ५ करोड रुपये की अधिक पत्र-मुद्रा चालू करने का अधिकार होना चाहिए।

श्री डी० एम० दलाल जो इस आयोग के एक मात्र भारतीय सदस्य थे, इस समिति की बहुमतीय रिपोर्ट से सहमत नही थे और उन्होने इसका काफी विरोध भी किया। दलाल महोदय ने समिति की चलन नीति का घोर विरोध किया। उन्होने इस बात पर जोर दिया कि विनिमय दर स्वर्ण मे केवल १ शिलिग ४ पेन्स ही रहनी चाहिए, क्योकि २ शिलिंग की विनिमय दर बहुत ऊँची है जो भारतीय व्यापार तथा उद्योग के लिए बडी हानिकारक है। उनका यह भी मत था कि स्वर्ण-विनिमय-मान के स्थान पर भारत मे पूर्ण स्वण-मान स्थापित होना चाहिए।

समिति के बहुमतीय सुझावो को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा भारतीय विरोधी सदस्य श्री दलाल की बातो पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। सन् १९२० के भारतीय मुद्रण-सशोधन ऐक्ट के अनुसार सावरेन १० रु० पर विधि-ग्राह्य घोषित कर दी गयी, अर्थात् १ रु० = २ शिलिंग स्वर्ण हो गया। सरकार ने समिति की रिपोर्ट को जैसे ही प्रकाशित किया भारत मे रिवर्स-कौन्सिल-बिल्स की माँग तुरन्त ही बढ गयी। भारत सरकार ने १ रु० = २ शिलिंग की विनिमय दर को बनाये रखने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु अन्त मे उसको काफी हानि उठानी पडी। धीरे-धीरे बाजार की वास्तविक तथा सरकारी विनिमय दर मे काफी अन्तर होने लगा। सरकार द्वारा जो विनिमय दर निर्धारित की गयी थी वह भारतीय आयातकर्त्ताओ के लिए लाभप्रद थी। इसी लिए भारतीयो ने विदेशो से अधिक मात्रा मे माल मँगाना प्रारम्भ कर दिया जिससे रिवर्स-कौन्सिल-बिल्स (उलटी हुडियो) की माँग और अधिक बढ गयी तथा इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतीय निर्यात हतोत्साहित होने लगा। आयात मे अधिकता तथा निर्यात मे कमी के कारण भारतीय व्यापार-सतुलन प्रतिकूल हो गया। बाजार मे चाँदी की कीमत २ शिलिंग सोने से अधिक थी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने डालर और स्टर्लिग पर से नियत्रण उठा लिया। व्यापारतुला के प्रतिकूल होने के कारण कौन्सिल-

बिल्स की मॉग अधिक बढ गयी। सरकार को उन्हे काफी मात्रा मे बेचना पडा जो कि लगभग ५ करोड रुपये तक की थी। परन्तु इस पर भी विनिमय दर २ शिलिग पर स्थिर नही रही। जून सन् १९२० के अन्त तक दर १ शिलिग ८ पेन्स हो गयी। कुछ समय तक भारत सरकार ने इसको २ शिलिग तक बनाये रखने का प्रयत्न किया परन्तु इससे भारतीय कोषागार को और भी हानि हुई।

भारत सरकार ने विनिमय दर को ऊपर उठाने के लिए मुद्रा सकोचन भी किया परन्तु इसके द्वारा भी सफलता प्राप्त नही हुई। जब सरकार के सभी प्रयत्न असफल हो गये तो उसने विनिमय दर पर नियत्रण करना ही त्याग दिया। विनिमय दर गिरकर १ शिलिग ५ पेन्स तक आयी। १९२१ के आरम्भ तक यह १ शिलिग ३ पेन्स तक आ गयी। चूँकि सरकार की विनिमय नियत्रण की नीति असफल रही तथा इसमे बराबर कमी होती चली गयी, इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय व्यापारियो को अत्यधिक मात्रा मे हानि उठानी पडी। कितनो का तो दिवाला ही निकल गया।

यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत सरकार ने बेबिंगटन स्मिथ समिति के सुझावो को स्वीकार करने मे जो जल्दी की उससे काफी हानि हुई। जिस समय समिति के सुझावो को कार्य रूप मे परिणत किया गया उस समय ससार की राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियॉ बहुत ही अनिश्चित थी। सरकार की गलत नीति के कारण व्यापारी वर्ग को काफी हानि उठानी पडी। परन्तु विनिमय-दर के घटने की प्रवृत्ति काफी समय तक नही रही तथा परिस्थितियो के बदल जाने के कारण विनिमय की दर धीरे-धीरे बढने लगी। इसमे तो कोई सदेह ही नही कि सरकारी विनिमय दर सदा ही २ शिलिंग के बराबर बनी रही, केवल बाजारी दर मे परिवर्तन होते रहे। १९२१ के आरम्भ मे ही विनिमय दर १ शिलिंग ३ पेन्स स्टर्लिंग तथा १ शिलिग स्वर्ण से भी नीचे गिर गयी। १९२३ मे परिस्थितियो ने दूसरा रुख बदला और विनिमय दर १ शिलिंग ४ पेन्स हो गयी। अक्तूबर १९२४ मे यह बढकर १ शिलिंग ६ पेन्स हो गयी।

१९२६ तक यह दर बढती गयी। अन्त मे १ शिलिग ६ पेन्स के आस-पास ही स्थिर रही। १९२६ मे जब कि विनिमय दर ऊपर उठ रही थी इसी बीच इग्लैन्ड ने स्वर्णमान ग्रहण करके स्टर्लिग और स्वर्ण की कीमतो मे स्थिरता उत्पन्न कर दी। तब से रुपये की कीमत बराबर १ शिलिग ६ पेन्स के बराबर ही बनी रही। ससार की आर्थिक परिस्थितियो मे सामजस्य स्थापित हो जाने के कारण विनिमय दर मे भी स्थिरता कायम रही। युद्धकालीन परिस्थितियो का अन्त हो जाने के कारण मन्दी का आना आवश्यक ही था और इस प्रकार आर्थिक जीवन की सामान्यता एक बार फिर से स्थापित हो गयी।

आलोचको का कहना है कि सरकार ने बेविगटन स्मिथ समिति के सुझावो को इतनी जल्दी अपना कर बडी भूल की। उसने इनको अनिश्चित राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियो मे कार्य रूप देकर भारतीय व्यापारियो को अधिक हानि पहुँचायी। यदि भारत सरकार ने समझ से क.म लिया होता तो उसकी मौद्रिक नीति से देश को इतनी अधिक हानि नही उठानी पडती।

हिल्टन यग कमीशन——१९२५ से पूर्व का काल आर्थिक रूप से एक अस्थिर काल था। आर्थिक जीवन को युद्धकाल के पश्चात् शान्ति से सतुलित किया जा रहा था। इस प्रकार युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी युद्ध के प्रभाव आर्थिक जीवन मे वतमान थे जिनको किसी प्रकार खत्म करना था। इसी लिए इस युग को हम कभी-कभी सक्रान्ति का युग कहते हे। इस काल मे सरकार ने २ शिलिग पर विनिमय दर स्थापित करने की योजना की परन्तु इस दर मे स्थिरता न आ सकी जिसके फलस्वरूप सरकार ने मॉग और पूर्ति को विनिमय दर स्थिर बनाने के लिए अपनाया। इस प्रकार मॉग और पूर्ति की शरण के बाद १९२५ तक आर्थिक विनिमय दर मे काफी स्थिरता आयी। परन्तु इसके बाद सरकार ने देश की मुद्रा सम्बन्धी पद्धति मे सुधार के लिए ११ सदस्यो की एक कमेटी नियुक्त की जिसमे लेफ्टिनेन्ट कर्नल हिल्टन यग को अध्यक्ष बनाया। देश मे एक ऐसी मुद्रा पद्धति का आयोजन जिससे विनिमय दर

मे स्थिरता आ सके, स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य प्रणाली की जाँच करना, चलन एव अधिकोषण सिद्धान्तो का एकीकरण तथा इनको कार्य रूप मे परिणत करने के सुझाव प्रस्तुत करना आदि इसके मुख्य उद्देश्य थे। इस कमीशन ने जुलाई १९२६ मे अपनी रिपोर्ट मुद्रा-प्रणालियो के पूर्ण अध्ययन के बाद पेश की। रिपोर्ट मे मुख्य रूप से तीन सुझाव थे—(१) नव-मुद्रा मान सम्बन्धी सुझाव, (२) विनिमय दर सम्बन्धी सुझाव, (३) मुद्रा-नियत्रण-अधिकार सम्बन्धी सुझाव।

(१) **मुद्रा-मान का चुनाव**—कमीशन ने, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, स्टर्लिग-विनिमय-मान, स्वर्ण-विनिमय-मान, स्वर्ण-मुद्रा-मान तथा स्वर्ण-पाट-मान का पूर्ण अध्ययन किया ओर देश मे प्रचलित मुद्रा-पद्धति का विश्लेषण किया। इस गहन विचार के बाद कमीशन ने देश मे स्वर्ण-पाट मान (Gold Bullion Standard) की स्थापना के लिए सुझाव दिया।

अन्य मुद्रा-मानो के अनुपयुक्त समझे जाने के कई कारण थे जिनका विश्लेषण निम्नलिखत है ।

स्वर्ण-विनिमय-मान के सम्बन्ध मे कमीशन को भारतीय परिस्थिति मे कई दोष मिले जो इस प्रकार है—(१) मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता लाने के लिए कौन्सिल-बिल्स इत्यादि के जटिल और कठिन तरीको को अपनाना पड़ता था जो भारतीय जनता के लिए प्राय असम्भव कार्य था।

(२) इस प्रणाली मे जनता का कम विश्वास था क्योकि मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-सकोच पूर्ण रूप से मुद्रा-अधिकारी के हाथ मे होता था और इस प्रणाली मे लोच नही थी और स्वत यह आयात-निर्यात के समय विदेशी विनिमय मे सुधार नही कर सकती थी।

(३) साख एव मुद्रा के नियत्रण की विभाजित जिम्मेदारी के कारण इसका कार्य ठीक ठीक नही हो पाता था।

(४) निधि के गतिशील होने के कारण सोना भी बेकार होता था और इस प्रकार एक मितव्ययी पद्धति होते हुए भी यह अपव्ययी प्रणाली ही साबित होती थी।

(५) इग्लैन्ड से सम्बन्धित होने के कारण वहा के मुद्रा सम्बन्धी परिवर्तनो का प्रभाव भारत पर भी पडता था जिससे यह प्रणाली रुपये के मूल्य मे स्थिरता न ला सकी। उपर्युक्त कारणो से ही कमीशन ने भारत के सदर्भ मे इस प्रणाली को अनुपयुक्त बताया।

स्टर्लिंग-विनिमय-मान के सम्बन्ध मे भी हिल्टन यग कमीशन को अध्ययन के पश्चात् दोष मिले जो कि इस मान को देश मे लागू करने के बिलकुल विपरीत थे। स्टर्लिंग-विनिमय-मान के अनुसार रुपये से स्टर्लिंग का बदला होना था, स्टर्लिंग को रुपये के बदले खरीदते थे। यग कमीशन के अनुसार इस तरीके मे भारत के इग्लैन्ड पर निर्भर रहने के कारण यह पद्धति भारत मे इग्लैन्ड की मुद्रा-प्रणाली पर अधिक निर्भर रहती है। इस प्रकार देश के लिए यह एक अनुपयुक्त प्रणाली समझी गयी।

स्वर्ण-मुद्रा मान की ओर विचार करने पर हिल्टन यग कमीशन ने इसमे भी कई दोष पाये जिसके कारण कमीशन ने इसको भी देश के लिए अस्वीकार कर दिया। दोष निम्नोक्त थे।

१ देश मे अपर्याप्त मात्रा मे स्वर्ण का पाया जाना सबसे बडा दोष था। परन्तु फिर भी अगर किसी प्रकार स्वर्ण प्राप्त करने के लिए चेष्टाएँ की जाती तो भी स्वर्ण की मात्रा पर्याप्त नही होती।

२. धातुओ का मूल्य कम होने के कारण यह रीति देश के लिए परित्यक्त कर दी गयी। इस प्रकार अन्य सब तरीको को त्याग कर हिल्टन यग कमीशन ने देश मे स्वर्ण-पाट-मान को स्थापित करने की स्वीकृति दी।

इसमे निम्नलिखित मुख्य बाते होती थी।

१. मुद्रा-अधिकारी या रिजर्व बैंक मुद्रा-अधिकार मिल जाने पर कम-से-कम ४०० औस शुद्ध सोना खरीदेगा और इस स्वर्ण का केवल मुद्रा कार्यो मे ही उपयोग किया जा सकेगा।

२ सावरेन या अर्ध-सावरेन विधि-ग्राह्य न होगे अर्थात् सोने के सिक्को का प्रचलन नही होगा। परन्तु रुपया पूर्ण विधि-ग्राह्य नही रहेगा।

३ वर्तमान नोट तो रुपयो मे बदले जा सकेगे पर नये नोट कानूनी

रूप से परिवर्तनीय नही होगे, परन्तु छोटे नोटो को और रुपये के सिक्को को बदले जाने की सुविधा होगी।

४ देश मे १ रुपये के नोट चालू किये जायेगे पर वे विधि-ग्राह्य होते हुए भी सिक्को मे परिवर्तनीय नही होगे।

५ कमीशन के सुझावो के अनुसार स्वर्ण-मान-निधि एव पत्र-चलन निधि दोनो को एक कर दिया जाय। निधि मे स्वण एव स्वर्ण-प्रतिभूतियाँ ४० प्रतिशत और शेष भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ एव व्यापारिक विपत्र ६० प्रतिशत होगे।

६ कमीशन ने देश मे आनुपातिक मुद्रा-पद्धति को लागू करने की स्वीकृत दी।

(२) **विनिमय दर सम्बन्धी सुझाव**—चलन एव अधिकोषण सिद्धान्तो की समस्त समस्याओ के अध्ययन के बाद, हिल्टन यग कमीशन ने देश मे विनिमय-सम्बन्धी अनुपात के वाद-विवाद का भी अध्ययन किया। वाद-विवाद के समय १६ पेन्स एव १८ पेन्स की बाते चल रही थी। कमीशन के सदस्यो मे भी इस प्रकार का कोई पूण समझौता नही हो पा रहा था। परन्तु बाद मे कमीशन ने रुपये का अनुपात १८ पेन्स के साथ स्वीकार किया। कमीशन के इस सुझाव के बाद देश मे इसके पक्ष और विपक्ष मे तर्क-वितर्क होने आरम्भ हो गये। कुछ महत्वपूण तर्क जो इस सुझाव के पक्ष मे दिये गये, अध्ययन योग्य है—

(१) भारत मे विनिमय की दर १८ पेन्स पिछले दो वर्षो से चली आ रही थी और ससार की अन्य शक्तियो के पूण समायोजन द्वारा ही निर्धारित की गयी थी। इसलिए भी इसका वर्तमान रहना एक स्वाभाविक बात मानी गयी। (२) देश मे भी सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का समायोजन इसी दर को अपना चुका था, जिसको छिन्न-भिन्न करना अनुचित-सा था। (३) देश मे १९१७ से १९२५ तक १६ पेन्स की दर असफल रही और इसके कारण मजदूरी और वस्तुओ के मूल्य मे समायोजना असफल हो गयी। इससे मूल्य अधिक ऊँचे हो जाते थे और मजदूरो को हानि होती थी। (४) इसी कारण पिछले वर्षो से देश का बजट भी १८ पेन्स की दर

पर ही निर्भर रहता था। यदि यह दर फिर १६ पेन्स पर लायी जाती तो वस्तुओ के मूल्य और मजदूरी मे सामजस्य की स्थापना का प्रश्न फिर खडा हो जाता। (५) व्यापारिक सतुलन की दृष्टि से भी १८ पेन्स की दर को ही अच्छा समझा गया, क्योकि देश को १६ पेन्स की दर पर भी पर्याप्त निधि रखनी पडती जो १८ पेन्स की दर पर भी ठीक है। अत कमीशन ने इन कारणो से देश मे १ शिलिग ६ पेन्स की विनिमय दर के लिए स्वीकृति दी।

उपर्युक्त कारणो से देश मे १८ पेन्स की दर लागू की गयी, परन्तु इसके विपक्ष मे भी तर्क उपस्थित किये गये—(१) जनता के विश्वास को बनाये रखने के लिए भारत मे भी १६ पेन्स की दर रखी जानी चाहिए, क्योकि देश मे गत १२ वर्षो से मूल्य-स्तर समान ही है और किसी अन्य देश ने भी प्रथम महायुद्ध की विनिमय दर से अधिक ऊँची दर नही अपनायी।(२) उद्योग-धन्धो के प्रति सरकार की विवेचनात्मक सरक्षण-नीति असफल हो जायगी और फिर उद्योगो को विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पडेगा, जिसका कारण विदेशी उत्पादको को अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय उत्पादन व्यय पर १२ प्रतिशत का लाभ प्राप्त होना है। (३) चूकि सरकार ने अपनी सुविधा के लिए १८ पन्स से नाता जोड लिया था इसलिए वह मुद्रा-सकोच भी करेगी ताकि अन्य देशो मे मूल्य समायोजन हो सके। परन्तु मुद्रा-सकोच के कुपरिणाम से देश को और जनता को हानि ही हानि थी जिसका नतीजा बेरोजगारी, निर्यात की कमी इत्यादि होगा। (४) १८ पेन्स की विनिमय दर के विपक्षी दल का कहना था कि यह दर केवल स्वण-निर्यात से ही कायम रखी जा सकती है परन्तु ऐसा करना देश के लिए बहुत ही हानिकारक है, इसलिए १६ पेन्स की दर ही ठीक है।

फिर भी कमीशन के समक्ष ये आलोचनाएँ बहुमत के मुकाबले मे असफल हो गयी और कमीशन के सुझाव के अनुसार देश की विनिमय दर १ शिलिग ६ पेन्स रखी गयी।

(३) **मुद्रा नियन्त्रण अधिकार सम्बन्धी सुझाव**—कमीशन-नियुक्ति

के समय मे मुद्रा-नियत्रण का कार्य सरकार द्वारा किया जाता था परन्तु साख-नियत्रण इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया किया करता था। इस प्रकार इन दोनो कामो को एक अधिकारी द्वारा करने के बजाय दो पृथक्-पृथक् सस्थाएँ किया करती थी, जिसके परिणामस्वरूप दोनो मे कोई सहयोग नही होता था और इस असहयोग के कारण ही विनिमय की दर अस्थिर रहती थी। इसी बैषम्य को दूर करने के विचार से हिल्टन यग कमीशन ने सरकार के सामने एक नया केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का प्रस्ताव रखा, जिसको रिजर्व बैंक आफ इन्डिया के नाम से पुकारा जाय। इस बैंक को कमीशन ने मुद्रा-नियत्रण एव साख-नियत्रण आदि साख एव मुद्रा सम्बन्धी सभी कार्य सौप देने का सुझाव रखा था।

कमीशन का सुझाव स्वीकार करने के बाद सरकार ने १९२७ मे एक करेन्सी ऐक्ट पास किया जो उसी वर्ष पहली अप्रैल से लागू हो गया। इस ऐक्ट के अनुसार सोने का क्रय-विक्रय सरकार के हाथ मे सौपा गया। देश मे १ शिलिंग ६ पेन्स की विनिमय दर घोषित की गयी। परन्तु स्वर्ण-पाट-मान की स्थापना के पश्चात् भी देश मे रिजर्व बैंक आफ इन्डिया की स्थापना के प्रयास को कुछ समय के लिए दबा दिया गया, लेकिन फिर बाद मे इस पर विचार किया गया और १९३५ मे इस बैंक की स्थापना हुई।

ऊपर हिल्टन यग कमीशन के सुझावो का उल्लेख किया गया है। साथ ही साथ यह भी बतलाया गया है कि सरकार ने कौन-कौन से सुझावो को कार्यान्विर्त किया था। सरकार ने कमीशन के सुझाव के अनुसार स्वर्ण-पाट-मान की स्थापना की परन्तु वह एक सैद्धान्तिक रूप से ही हुआ था क्योकि सरकार ने रुपये का सम्बन्ध स्वर्ण से न करके स्टर्लिंग से कायम किया। यानी रुपये का स्वर्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होकर परोक्ष सम्बन्ध हुआ जिसके कारण विदेशो मे रुपये को स्टर्लिंग के ही माध्यम से जाना जाता था। स्टर्लिंग से रुपये के इस परोक्ष सम्बन्ध के नाते ही जब स्वर्ण मे स्टर्लिंग का ह्रास होता था तब सरकार रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर अपने हस्तक्षेप द्वारा कायम रखती थी। यह हाल सन् १९२७ से १९३१ तक

ही रहा और १९३१ मे सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से स्टर्लिंग-विनिमय-मान की स्थापना कर दी। सरकार ने इस प्रकार कमीशन के सुझाव को पूर्ण रूप से कार्यान्वित नही किया, क्योकि रुपये का, कमीशन के अनुसार, किसी देश-विशेष की विनिमय-शक्ति से सम्बन्ध नही करना चाहिए था और इसी लिए स्वर्ण से उसके प्रत्यक्ष सम्बन्ध का सुझाव दिया गया था। इस प्रकार यदि देश मे स्टर्लिंग-विनिमय-मान अपनाया गया तो इसका कारण सरकार की नीति थी, क्योकि उसने स्वण-पाट-मान को अपनाया ही नही था।

रुपये की विनिमय दर को तो सरकार ने मान लिया परन्तु कमीशन के सुझाव के विरुद्ध ही मूल्य ह्रास के समय भी हस्तक्षेप करके स्टर्लिंग के साथ विनिमय दर को स्थिर बनाया गया। कमीशन ने स्वर्णमान के खत्म होने की भी भविष्यवाणी की थी, फिर भी सरकार ने अपने ही उपायो के आधार पर रुपये की दर स्टर्लिंग से क्यो निश्चित की और यदि की गयी तो मूल्य-ह्रास के समय दर मे परिवर्तन होना चाहिए था। उपर्युक्त विवेचन से यह अवश्य ही स्पष्ट होगा कि देश मे चलन पद्धति के विकास के लिए हिल्टन यग कमीशन के सुझावो को पूरी तौर पर कार्य रूप मे परिणत नही किया गया।

अध्याय ३

बैंकिग का विकास

वास्तव मे बैकिग का प्रारम्भ व्यक्ति-विशेष के उस कार्य से प्रारम्भ होता है जो उसने समाज की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए करना शुरू किया था। यह केवल समय के विकास का प्रतिफल है कि ऐसे व्यक्ति अपना महत्व शनै-शनै खोते गये और सुसगठित बैंकिग सस्थाओ का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका कार्य केवल द्रव्य ऋण देने के अतिरिक्त अन्य बैकिग सुविधाए देने के लिए भी था।

यद्यपि यह कहना कठिन है कि बैकिग व्यवसाय का प्रारम्भ कहा और कब हुआ पर यह तो कहा ही जा सकता है कि भारतीय अधिकोषण पद्धति उतनी ही प्राचीन है जितना भारतीय व्यवसाय। भारत मे विदेशियो के आने के पूर्व ही यहा देशी अधिकोषण प्रथा अपने पूर्ण विकसित रूप मे विद्यमान थी। कोई भी शाही अदालत या राजदरबार का राज्य कार्य बैकर (श्रेष्ठी) के अभाव मे अधूरा माना जाता था। उसे प्राय मत्री के समान अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त होती थी। बैकिग क्षेत्र मे भारत वष अपनी प्राचीन सफलताओ के लिए वास्तव मे प्रशसा का पात्र है तथा हम इन सफलताओ पर गौरव का अनुभव कर सकते है। उस समय जब ससार के अन्य दूसरे भाग बैकिग के प्रारम्भिक सिद्धान्ता को समझने का प्रयत्न कर रहे थे, भारत वर्ष मे देशी अधिकोषण प्रथा अपने पूर्ण विकास पर थी जिसका भारतीय इतिहास मे अपना अलग ही महत्व है तथा जिसकी कार्य विधिया ससार की अन्य पद्धतियो से भिन्न थी।

यही नही, मुगल इतिहासकारो के उल्लेख मे भी इसका प्रमाण मिलता है कि मुद्रा का बडी मात्रा मे आदान-प्रदान, साख-पत्र तथा हुन्डी प्रचलन इन व्यक्तियो द्वारा किया जाता था, जिनका कार्य न केवल देशी व्यापार मे

आर्थिक सहायता करना था बल्कि मुगल शासको के बैंकर के रूप मे भी ये कार्य करते थे। ये देशी बैंकर विदेशी व्यापार मे भी साख-पत्रो द्वारा सहायक होते थे। यही नही, इनका कार्य एक राज्य की मुद्रा को दूसरे राज्य की मुद्रा मे परिवर्तित करना भी होता था, जो काफी लाभ-दायक होता था। मुगल शासक भी कुछ प्रमुख देशी बैंकरो को राज्य की सेवाओ के लिए रखते थे। जैसे सरकारी आय को इकट्ठा करना, लगान वसूल करना, आवश्यकता पडने पर सरकार को ऋण भी देना आदि। इस प्रकार हम देखते है कि ये देशी बैंकर केन्द्रीय बैंक के भी कुछ कार्य करते थे। इन बैंकरो को सामाजिक व राजकीय सम्मान प्राप्त था तथा मुगल दरबार मे इन्हे काफी सुविधाएँ मिलती थी। मध्य-कालीन भारत के आर्थिक इतिहास मे जगत सेठ का नाम प्रसिद्ध ही है। इसे जो सुविधाएँ और सम्मान प्राप्त था उस की तुलना आज की किसी भी बैंकिग सस्था से नही की जा सकती।

सत्रहवी व अठारहवी शताब्दी के यातायात व सवाद-वाहनो की जो अल्प सुविधाएँ उपलब्ध थी उनको विचार मे रखकर अगर इन बैंकरो के विस्तृत कार्यक्षेत्र को देखा जाय, जिसमे ये बैंकिग सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने मे समर्थ थे, तो ये निसन्देह प्रशसा एव बधाई के पात्र है। जगतसेठ के व्यापारिक प्रतिनिधि देश के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रो मे रहते थे। वे बराबर एक दूसरे से सम्बन्ध बनाये रखते थे तथा नवीन पद्धतियो से एक दूसरे को अवगत कराते रहते थे। यही नही, कभी-कभी सरकार को भी इनकी सूचनाओ पर निर्भर रहना पडता था, क्योकि इनके द्वारा दी गयी सूचनाएँ विश्वसनीय मानी जाती थी। इन बैंकरो ने अपना अलग ही एक साख-पत्र चलाया जो हुन्डी (ड्राफ्ट) के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसका इतिहास उतना ही प्राचीन है जितनी भारतीय बैंकिग स्वय। इस प्रकार सुसगठित व्यवस्था का हमे भान होता है।

इन देशी बैंकरो ने सत्रहवी से अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे काफी उन्नति की, पर अठारहवी शती के अन्तिम वर्षो मे

इनका व्यवसाय पतन की दिशा मे मुडने लगा। युद्ध होने के कारण अशाति के फैलने और मुगल शासको के पतन के कारण इनके व्यवसाय को काफी धक्का लगा। दूसरा कारण यह था कि सन् १८३५ मे मुद्रा समानीकरण के कारण इनका मुद्रा-परिवर्तन का कार्य जो बहुत लाभदायक था बन्द हो गया। तीसरे, यातायात व सवाद-वहन साधनो मे उन्नति जो जल तथा स्थल दोनो मार्गो मे हुई उसने उद्योग और व्यापार के प्रशार मे अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया तथा अधिकोषण की नवीन प्रणालिया प्रयोग मे आ गयी, जब कि देशी बैकरो ने इनका अनुकरण नही किया और पुरानी घिसी-पिटी पद्धति पर चलते रहे। इस सर्व-मान्य परिवर्तन को उन्होने स्वीकार ही नही किया।

एजेसी गृह—भारत मे ईस्ट इडिया कम्पनी के स्थापित होने के साथ ही पाश्चात्य ढग पर बैकिग प्रणाली का आगमन हुआ। यद्यपि उस समय भी ये देशी बैकर अपना व्यवसाय कर रहे थे पर वे इन ब्रिटिश व्यवसायियो की आवश्यकता की पूर्ति नही कर पाते थे और दूसरे, विदेशी व्यापारी वर्ग इन देशी बैकगे की भाषा व पद्धति से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इन्ही दो कठिनाइयो को दूर करने के लिए दो उपाय किये गये—पहला था एजेन्सी गृहो का निर्माण, दूसरा, इन देशी बैकरो का सहयोग। एजेन्सी गृह सर्वप्रथम कलकत्ता और बम्बई मे खुले। यहाँ यह सकेत कर देना उचित होगा कि सर्वप्रथम ईस्ट इडिया कम्पनी यहाँ पर सयुक्त स्कन्ध अधिकोषण स्थापित करने के पक्ष मे न थी। उसके विचार से तो देशी बैक और ये एजेसी गृह ही उसकी आवश्यकता के अनुरूप थे।

उपर्युक्त सुधार का प्रयत्न भी देशी बैकरो के मदी काल को न रोक सका। ब्रिटिश व्यापार की शनै शनै उन्नति होती गयी और कम्पनी का कार्यक्षेत्र भी उसी गति से बढने लगा। अत कुछ दिनो बाद कम्पनी को इस बात का अनुभव हुआ कि किसी सगठित व आधुनिक आर्थिक सस्था की स्थापना की जाय, जिससे व्यापार व शासन दोनो की आवश्यकता की पूर्ति हो सके। तब शासकीय आवश्यकताओ की पूर्ति के हेतु सरकारी

कोषागार खुलने लगे तथा व्यापार की आवश्यकता-पूर्ति हेतु पाश्चात्य पद्धति पर बैको की स्थापना होने लगी। इस दोनो प्रकार की उन्नति ने देशी बैंकरो के अस्तित्व को लगभग नष्ट ही कर दिया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन आधुनिक पद्धति पर स्थापित बैंको का क्षेत्र केवल बन्दरगाहो वाले नगर व प्रमुख शहरो तक ही सीमित था। अत देशी बैंकरो ने अपना महत्वपूर्ण स्थान देश के कृषको, वित्त व आन्तरिक व्यापार मे बनाये रखा। वास्तव मे देखा जाय तो आज भी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे इनका प्रमुख स्थान है। कुछ दशाओ मे ये सयुक्त स्कध-बैंको[1] और व्यापारिक वर्ग के बीच मे मध्यस्थ का भी काम करतेहै, जैसे ये हुन्डियो का क्रय-विक्रय करते है तथा आवश्यकता पडने पर बडे बैंको के पास उनका पुर्नमितीय[2] काटा करते है। जैसे लन्दन के मुद्रा-बाजार मे विल के दलाल करते है। प्रारम्भिक अवस्था मे यूरोपीय बैंक व एजेन्सी-गृहो का विकास-कार्य जो सत्रहवी व अठारहवी शताब्दी मे हुआ, बिवाद-ग्रस्त रहा। ईस्ट इडिया कम्पनी के अधिकोषण सम्बन्धी कार्य इन एजेन्सी-गृहो द्वारा सपादित होते थे, जो बैंकिग व्यवसाय मे अग्रगण्य माने जाते है। उनका बैंकिग व्यवसाय केवल सहायक कार्य रूप मे ही रहा तथा मुख्य कार्य जहाजी व्यवसाय व एजेन्सी कार्य थे। अधिकतर नील, चाय और पटसन उद्योग को ही आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। वे एजेन्सी-गृह क्रमश समस्त सैनिक व नागरिक सेवाओ के एजेन्ट बन गये जो यूरोपीय व्यवसायियो को आवश्यक थी।

प्रारम्भ मे एजेन्सी-गृहो के पास कोई अपनी पूँजी नही थी तथा पूर्ण रूप से उन्हे कम्पनी के कर्मचारियो की बचत पर निर्भर रहना पडता था। वे जमा स्वीकार करते थे। फसल के स्थानान्तरण के लिए ऋण देते थे तथा पत्र-मुद्रा निर्गमित करते थे, जो उनके लिए काफी लाभदायक कार्य सिद्ध होता था। विलियम कुक के अनुसार प्रथम अधिकोषण सस्था बैंक आफ हिन्दुस्तान है जो १७७० मे कलकत्ता

1. Joint stock bank. 2 Discounting of bills etc

मे एलेक्जेडर एन्ड क० एजेन्सी-गृह द्वारा स्थापित किया गया । पर कुछ लेखको ने कुक के इस कथन का खण्डन किया है, इनके मतानुसार प्रथम यूरोपीय बैंक खोलने का श्रेय मद्रास को है । इस तथ्य को वे प्रेसीडेंसी गजट व सेक्रेट रिपोट के लेखा से प्रमाणित करते है । बैंक आफ हिन्दुस्तान, जिसे नोट जारी करने का भी अविकार प्राप्त था, सन् १८३२ मे बद हो गया । क्योकि इसे स्थापित करने वाली कम्पनी भग हो गयी । दी बगाल बैंक एन्ड जेनरल बैंक की स्थापना सन् १७८५ मे हुई थी ।

प्रेसीडेंसी बैंक—१८०५ व उसके बाद से हम बैकिग का क्रमिक इतिहास पाते है । दी बैंक आफ बगाल, जो प्रथम प्रेसीडेंसी बैंक था, १८०६ मे बैंक आफ कलकत्ता के अन्तर्गत खुला तथा इसे बैंक आफ बगाल के नाम से १८०९ मे सरकार द्वारा मान्यता मिली । इस बैंक की स्थापना सरकार को ऋण की सुविधा देने व साख को बनाये रखने के उद्देश्य से की गयी । इस बैंक के कार्य पर अधिकार पाने के हेतु कम्पनी ने बैंक की अश-पूजी की योजना मे भाग लिया और इस प्रकार उसे अपने तीन सचालक नियुक्त करने का अधिकार मिला । इस बैंक का सचिव प्राय सिविल सर्विस का सदस्य होता था । सन् १८३२ मे इस बैंक को नोट निगमित करने का अधिकार मिला तथा १८३९ मे नियम हेतु इसे शाखाएँ खोलने का अधिकार भी मिला । पर विदेशी विनिमय के लिए इस पर प्रतिबन्ध लागू रहा । दूसरा प्रतिबन्ध यह था कि इस पर ब्याज की दर १२ प्रतिशत तक सीमित कर दी गयी थी । दी बैंक आफ बबई तथा बैंक आफ मद्रास की स्थापना सन् १८४० और १८४३ मे क्रमश ५० लाख रु० व ३० लाख रु० पूजी से हुई, जिसमे ईस्ट इडिया कम्पनी ने तीन लाख रुपया लगाया । इन बैंको को नोट निर्गमित करने के अधिकार दिये गये । इनकी अंश-पूजी का क्रय अधिकाशत अभारतियो द्वारा किया गया । इनके प्रमुख उच्चाधिकारी, जैसे सेक्रेटरी व कोषाध्यक्ष नागरिक सेवा के सदस्य होते थे । १८६२ मे इन बैंको से नोट जारी करने का अधिकार ले लिया गया तथा उसे सरकार का

एकाधिकार घोषित कर दिया गया। इसके स्थान पर सरकार की शेष राशि का इन्हे स्वतन्त्रता पूर्वक उपयोग करने की अनुमति दी गयी। बैंक आफ बबई का १८६२ मे विघटन कर दिया गया पर उसी वर्ष उसी नाम से १ करोड की पूजी से एक नया बैंक खोला गया।

प्रेसीडेन्सी बैंक ऐक्ट १८७६ के द्वारा सरकार ने जमा करने वालो के हित को सुरक्षित रखने के लिए बैंको के कार्य को कुछ सीमित कर दिया। ये बैंक विदेशी बिलो का व्यापार करने से रोक दिये गये और ये विदेशो से ऋण भी न ले सकते थे। ऋण देने की अवधि की अधिकतम सीमा छ महीने कर दी गयी। अचल सम्पत्ति की जमानत द्वारा ऋण देने पर रोक लग गयी। इन प्रेसीडेन्सी बैंको को सरकारी बैंक के रूप मे मान्यता प्राप्त होने पर अपना कार्य-क्षेत्र बढाने का अवसर मिला।

यद्यपि इन प्रेसीडेन्सी बैंको की शाखाएँ देश के प्रमुख व्यावसायिक केन्द्रो मे थी, फिर भी इनकी नीति मे एकरूपता का अभाव था तथा पारस्परिक सम्बन्ध नही था। १८६० से १८७६ तक बगाल बैंक को अखिल भारतीय बैंक के रूप मे परिवर्तित करने की योजना पर विचार किया जाता रहा। भारत सरकार के समक्ष यह योजना पेश हुई पर इसे यह कहकर टाल दिया गया कि इतने बडे बैंक की व्यवस्था करना कठिन हो जायगा। १८९८ मे फाउलर करेंसी कमेटी के समक्ष केन्द्रीय बैंक स्थापित करने के विषय मे कुछ तर्क रखे गये। सरकार ने उन्हें भी नामजूर कर दिया। वास्तव मे ये प्रेसीडेन्सी बैंक स्वय एकीकरण के पक्ष मे नही थे। ये अपना अलग अस्तित्व बनाये रखना चाहते थे। सन् १९१३ से १७ तक के बैंको के सकटकाल ने इन प्रेसीडेसी बैंको के दोषो को सर्वविदित कर दिया। अन्त मे यह भय हुआ कि यदि इन बैंको का पृथक् अस्तित्व बना रहा तो अग्रेजी, जापानी या अमेरिकन बैंको मे से कोई भी बैंक भारत के कुछ बैंको का एकीकरण करके भारत की आर्थिक व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का मत जनता की तरफ से अधिक

जोर पकडता गया। परिणामस्वरूप सरकार को अपना विरोध वापस लेना पडा। इस प्रकार १९२० मे तत्सम्बन्धी एक ऐक्ट इन प्रेसीडेन्सी बैको के एकीकरण के लिए बना जो १९२१ मे कार्यान्वित किया गया। इस प्रकार इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई जिसने १९२१ से कार्य करना प्रारम्भ किया।

२७ जनवरी १९२१ को जब इन बैको का एकीकरण किया गया इनकी कुल ५९ शाखाएँ थी, जिनकी कुल चुकता पूँजी ३७५ लाख रुपये व कुल सचय ३४५ लाख रुपये था।

पूँजी का ब्यौरा, करोड रुपयो मे—

वर्ष	चुकता पूँजी	सचय	राजकीय जमा	व्यक्तिगत जमा	नकद बचत
१८७०	३ ३६	२५	५ ४३	६ ४०	९ ९७
१८८०	३ ५०	५५	२ ९१	८ ८९	७ ४१
१८९०	३ ५०	९७	३ ५९	१४ ७६	१२ ९७
१९००	३ ६०	२ ००	२ ८०	१२ ८८	५ ०४
१९१०	३ ६०	३ ३१	२ २४	३२ ३४	११ ३५
१९२०	३ ७५	३ ७८	९ ०३	७८ ०२	२६ ०३

भारत मे सयुक्त स्कन्ध बैंक—१८१३ ई० का ऐक्ट, जिसके द्वारा यूरोपीय विनियोजन पर से लगभग सभी प्रतिबन्ध हटा लिये गये, सयुक्त स्कन्ध अधिकोषण की स्थापना व विकास मे काफी सहायक सिद्ध हुआ। अग्रेजी एजेन्सी-गृहो ने भी बहुत से बैको की स्थापना की जो असीमित दायित्व के स्तर के थे। इनका उद्देश्य सामान्य बैंकिंग के कार्य, जैसे आन्तरिक व्यापार मे सहायता, उद्योगो की आर्थिक सहायता तथा विनिमय का कार्य होता था।

इन प्रेसीडेन्सी बैंको के अतिरिक्त निम्नलिखित बैंक ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रारम्भिक दिनो से १८६० ई० तक कार्य करते रहे।

बैंक का नाम	स्थापित	मुख्य कार्यालय	शाखाएँ	पूँजी
१. दी ओरेन्टल बैंक	१८५१	लन्दन		१२,१५,०००
२ दी आगरा एन्ड अवध बैंक	१८३३	कलकत्ता	आगरा, मद्रास, लाहौर और लन्दन	७,००,०००
३ दी नार्थ वेस्ट बैंक	१८४४	लन्दन	बम्बई, सिमला, मन्सूरी, आगरा, दिल्ली, कानपुर	२,२०,५६०
४ दी कामरशियल बैंक	१८५४	बम्बई	ए जेन्ड लन्दन सवाई, कलकत्ता	१०,००,०००
५. दी दिल्ली बैंक	१८४४	दिल्ली	लन्दन, कलकत्ता बम्बई और मद्रास	१,८०,०००
६ दी शिमला बैंक	१८४४			६३,८५०
७ दी ढाका बैंक	१८४६	ढाका		५०,०००
८ दी मेरकनटाइलबैंक		बम्बई	लन्दन, कलकत्ता कोलम्बो और सघाई	५,००,०००

ये सभी बैंक असीमित दायित्व के आधार पर स्थापित हुए थे। सट्टे की प्रवृत्ति तब भी इनमे विद्यमान थी जिसके कारण अन्त मे इन्हे काफी नुकसान उठाना पडा तथा आगे प्रभावहीन अकेक्षण, अव्यवस्थित प्रबन्ध आदि के कारण ये असफल रहे।

सयुक्त स्कन्ध अधिकोषण का इतिहास सन् १८६० ई० से अब तक, जब कि सीमित दायित्व का प्रारम्भ हुआ, काफी रोचक रहा है। कडी प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप कई बैंक खुलते और बन्द होते रह। बैंकिग के इतिहास मे सन् १८६० का विशेष महत्व है, क्योकि इसी वर्ष सीमित दायित्व वाले बैंको का प्रारम्भ हुआ, जो कि अधिक मात्रा मे पूँजी आकर्षित करने के लिए बहुत आवश्यक थे। पर इसी समय से बैंको से नोट निर्गमित करने का अधिकार वापस ले लिया गया। तत्पश्चात् अमेरिका मे गृहयुद्ध प्रारम्भ हो गया जिसमे इग्लैण्ड मे अमेरिका से कपास आना बन्द हो गया और इसके फलस्वरूप इग्लैण्ड मे भारतीय कपास की माग बेहद बढ गयी, जिससे भारत का कपास-व्यापार अपने उच्च स्तर पर पहुँच गया। बैंकिग तथा अन्य आर्थिक सस्थाएँ अवसर का लाभ उठाने के लिए इस व्यापार में सम्मिलित हो गयी पर थोडे ही समय मे सभी बैंक फेल हो गये, क्योकि बाद के अवसाद काल मे आर्थिक सकट का कोई भी सामना न कर सका। बम्बई शहर मे अमेरिकी युद्धकाल मे बैंकों की जितनी उन्नति हुई उससे आश्चर्य ही होता है। तीन वर्ष, सन् १८६३ से ६५ के अन्तर्गत ही २५ बैंक १३ ६ करोड की पूँजी से खुल गये और ३९ वित्त-सस्थाओ की ६ २ करोड की चुकता पूँजी हो गयी। इस सट्टे-बाजारी के समय उन्होने अपनी पूजी बहुत अधिक बढा ली पर अभाग्यवश यह सब उन्नति सट्टे की आधारहीन स्थिति पर आधारित थी। ज्यो ही सट्टा-बाजार मन्दा पडा, ये बैंक भी मन्दी के काल का सामना न कर सके और असफल हो गये।

इस सकट काल के कारण जनता का बैंको पर से विश्वास उठ गया। सात बैंको मे से निम्न तीन बैंक ही इस काल मे टिक सके—बैंक आफ अपर इडिया, दी इलाहाबाद बैंक और बगलोर बैंक, जो क्रमश १८६३,

१८६५, १८६८ मे स्थापित हुए थे। यद्यपि इलाहाबाद बैंक १८६५ मे चालू हो गया था पर २३ वर्ष तक इसकी कोई शाखा नही खुल सकी। १८७० से १८९४ के अन्तर्गत सात और नये बैंक खुले जिनमे केवल चार इस सकट काल मे टिक सके। दी एलायन्स बैंक आफ शिमला १८७४ मे स्थापित हुआ जिसका प्रमुख कार्यालय शिमला मे था। इसकी ३९ शाखाएँ व ११ सहायक कार्यालय थे। इसका विघटन १९२३ मे इस लिए हो गया कि इसने अपनी अधिकाश जमा का सहायक उद्योगो मे विनियोग किया था जो लन्दन के बोल्टन ब्रदर्स द्वारा चलाये गये थे।

दी अवध कर्मशियल बैंक जो कि १८८१ मे चालू किया गया प्रथम बैंक था जिसका प्रबन्ध भारतीयो के हित मे था। दी पजाब नेशनल बैंक की १८९४ मे तथा पीपुल्स बैंक की १९०१ मे स्थापना हुई। इन दो बैंको ने थोड़े ही समय मे काफी उन्नति कर ली और पीपुल्स बैंक की बारह सालो मे ही १०० शाखाएँ खुल गयी और इसकी जमा पूँजी १ २५ करोड से अधिक हो गयी। यह बैंक भी १९१३ मे असफल हो गया, क्योकि इसने अपने धन के अधिक भाग का उद्योगो मे विनियोग कर दिया था और जब जमा करने वाले अपनी राशि निकालने आये तो बैंक एकाएक उन्हे सतुष्ट न कर सका। दूसरे बैंक भी इसकी मदद करने से अलग हट गये।

कुछ लेखको का मत है कि इस धीमी प्रगति का कारण विनिमय की अस्थिरता है। पर केवल इसी को बैंको की मन्द उन्नति का कारण नही माना जा सकता है। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यह तो १९वी शती के उत्तराध की आर्थिक अवस्था सबधी तटस्थता का प्रतिफल है। बैंको के विकास मे बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से कुछ प्रगति होने लगी, क्योकि १९०६ के स्वदेशी आन्दोलन से इन्हे काफी बल मिला। उस समय इस आन्दोलन का बहुमुखी प्रभाव पडा। राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हो जाने से व व्यापार की अनुकूल अवस्था के कारण बैंको के विस्तार मे वास्तविक सहायता मिली। दूसरे शब्दो मे स्वदेशी आन्दोलन से भारतीय प्रबन्ध के अन्तर्गत बैंको को खुलने का प्रलोभन प्राप्त हुआ।

निम्नोक्त वर्तमान सम्पन्न बैको की स्थापना उसी समय मे हुई—दी बैंक आफ इडिया, दी इडियन बैंक आफ मद्रास, दी सेन्ट्रल बैंक आफ इडिया, दी बैंक आफ बरोदा, दी बैंक आफ मैसूर। अन्य बडे बैंक जो असफल हुए वे थे दी बगाल नेशनल बैंक, दी क्रेडिट बैंक आफ इडिया, दी बाम्बे मरचेन्ट बैंक, दी स्टैन्डर्ड बैंक आफ बाम्बे, दी बैंक आफ अपर इडिया।

बैंकिंग सकटकाल—१९१३ से २४ तक बैंको के सकट के लिए मदी का काल था जो सयुक्त स्कन्ध बैंको के लिए बहुत कठिन समय रहा। १९१३ से चार वर्ष के अन्तर्गत ८७ बैंक निष्फल हो गये, जिनकी चुकता पूजी १ ७५ करोड से ऊपर थी, जो समस्त सयुक्त स्कन्ध बैंको की कुल चुकता पूँजी का आधे से कुछ अधिक भाग थी।

१९१३ से १९२५ के बीच १६१ बैंक निष्फल हो गये जिनकी चुकता पूँजी ६ ७५ करोड के लगभग थी। बैंको की इस घोर निराशाजनक परिस्थिति का कीन्स जैसे प्रतिभाशाली अर्थशास्त्री ने सकट काल के कुछ महीने पहले ही अनुमान कर लिया था। उनका मत था कि छोटे छोटे बैंक अपना व्यापार अधिकतर बैंकिग सिद्धान्त से प्रतिकूल व्यवसाय मे करते है जब कि इस देश मे मुद्रा गाडकर रखने की प्रवृत्ति अब भा प्रचलित है। इन बैंको के पास नकद जमा भी बहुत ही कम है और यह आशका है कि कुछ ही दिनो मे इन्हे विपरीत परिस्थिति का सामना करने मे कठिनाई होगी और ये सम्भवत असफल हो जायेंगे। १९१३ से १९१७ के इस अल्प काल मे एक के बाद एक बैंक निष्फल होते गये। यह वास्तविक अर्थ मे सकटकाल नही था परन्तु भारत मे बैंक अधिकतर अपनी व्यक्तिगत कमजोरी के कारण असफल हुए है।

सकटकाल के कारण—इस सकट काल के अनेक कारण है। प्रथम महायुद्ध के बाद स्वदेशी आदोलन की प्रगति होने से बहुत से बैंक बहुत ही अपर्याप्त पूजी से खुल गये और अपने कार्यों मे इन बैंको ने बैंकिंग के सिद्धान्तो की अवहेलना करनी शुरू कर दी। ये बैंक अनुकूल परिस्थिति मे जन्म लेने के कारण कठिन परिस्थितियो से अनभिज्ञ थे। यद्यपि इनकी अधिकृत पूँजी अधिक थी पर जमा और चुकता पूँजी बहुत ही कम थी

—अधिकृत पूँजी का क्रमश ४० प्रतिशत और १४ प्रतिशत। उस समय इन अनियमितताओ को रोकने के लिए कोई वैधानिक व्यवस्था न थी। साधारण जनता को इस तीन प्रकार की पूँजी के अन्तर का ज्ञान न था और वह आसानी से धोखे मे आ गयी। इस दूषित पूँजी का स्वाभाविक प्रभाव यह पडा कि बैंको को अपने कार्य के लिए जनता के जमा धन पर पूर्ण रूप से निर्भर रहना पडा। अधिक धन आकर्षित करने के लिए ये बैंक जमा पर ऊची दर से ब्याज देने लगे। ४ प्रतिशत से ५ प्रतिशत तक निश्चित जमा पर व २ से २॥ प्रतिशत तक चालू खाते पर सालाना ब्याज की दर तो उस समय सामान्य थी।

इस प्रकार ऊँची ब्याज की दर के कारण बैंक सट्टेबाजी व अस्थिर उद्योगो मे रुपया लगाने के लिए विवश हो गये, क्योकि इनसे पूँजी पर ब्याज प्राप्त करके ही ये ऊँची दर का ब्याज दे पाते थे। साथ ही माग पर देय जमा को भी ये लम्बी अवधि के लिए ऋण मे देने लगे। इस प्रकार बैंकिग के मूल सिद्धान्त को ये बैंक भूल ही गये। कभी कभी तो उद्योगो को बिना अच्छी तरह जाच किये ही ये ऋण दे देते थे जिसमे काफी रुपया एक ही बार मे एक उद्योग मे डूब जाता था। इस प्रकार जमा करने वाले जब अपना रुपया निकालने के लिए एक साथ पहुँचते तो ये बैंक विनियोजित ऋण ठीक समय पर वापस न होने पर बडे सकट मे पड जाते थे। फिर बहुत से बैंको के सचालक व प्रबन्धक बैंकिग कार्य-प्रणाली से अनभिज्ञ थे तथा इस व्यवसाय मे इनका आना सर्वथा आकस्मिक था। बैंको के अधिकारी अपने अधिकार के प्रति या तो अनभिज्ञ थे या उदासीन। कम्पनी के प्रबन्धक नियत्रण मे कुछ भी हस्तक्षेप नही करते थे, जिससे जनता के द्रव्य का उपयोग अवाछनीय रूप से होता था। जमा करने वाले कृत्रिम वार्षिक चिट्ठे के प्रदर्शन और ब्याज की ऊची दरो के प्रलोभन मे आसानी से आ जाते थे। इस प्रकार दायित्व की अपेक्षा नकद जमा का अनुपात बहुत कम रह गया, जो सामान्यत १० से ११ प्रतिशत तक था। ये अक विशेष कर भारत के लिए तो बहुत ही अपर्याप्त है जहाँ बैंकिग की आदत अब भी स्थिर रूप से नही बन पायी है। केन्द्रीय

बैंकिग सस्था, जो बैंकिग की नीति को नियन्त्रित कर सके तथा बैंको की स्वार्थ-परता को रोक सके, इसके अभाव ने इस सकटकाल के काले पृष्ठो को और गहरे रगो मे रग दिया। ऐसे समय सरकार का यह कर्तव्य था कि सकट-काल घोषित करके साख-सस्थाओ की आर्थिक सहायता करती, जिससे वे असफल होने मे अपनी रक्षा कर सकती। पर भारत सरकार इस दिशा मे सर्वथा उदासीन रही ।

उपर्युक्त असफलता के कारण मुख्यत उन बैंको पर लागू होते हैं जिनकी स्थापना १९०४ के बाद हुई थी। पर इसका आशय यह नही है कि हम भारतीय प्रबन्धको की व्यावसायिक योग्यता पर सन्देह करे, क्योकि कुछ बडे बैंक उस सकट काल मे भी पर्याप्त लाभ पर भारतीयो द्वारा सचालित होते रहे। हमे यह नही भूल जाना चाहिए कि बैंको के इतिहास मे इनकी असफलता के उदाहरण हमे इग्लैण्ड, अमेरिका मे भी मिलते है जो आजकल बैंकिग व्यवसाय मे काफी उन्नति कर गये है ।

वास्तव मे भारत मे बैंको का विकास व्यक्तिगत रूप से हुआ है। व्यक्ति-विशेष का इनमे अपना निहित स्वाथ होता था, जिसका मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना रहता था ।

सकटग्रस्त अवस्था का परिणाम—सन् १९१४ के सकट-काल ने नये बैंको को कुछ दिनो के लिए बिलकुल ही न खुलने दिया और मुख्यत उन प्रातो मे जहाँ इनकी असफलता विशेष रूप से हुई, बैंको के प्रति जनता का बिलकुल विश्वास उठ गया तथा कुछ समय के लिए बैंको से अपना रुपया जनता ने निकाल लिया। उपर्युक्त परिणामो के अतिरिक्त इस आपत्ति काल से कुछ लाभ भी हुए। प्रथम तो यह कि भारतीय बैंको के दूषित लक्षण दूर हो गये और एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का अनुभव हुआ, जिससे बैंकिग के सिद्धान्तो को सचालित किया जा सके व व्यवस्था मे सुधार कराया जा सके। बैंकिग शिक्षा का महत्व भी मालूम हुआ क्योकि अन्त मे अच्छे बैंकर पर ही उन्नतिशील बैंकिग निर्भर होती है। जनता मे ऊची परम्पराओ का निर्माण व उत्तरदायित्व का सही रूप से ज्ञान प्रतिभासम्पन्न बैंकिग विकास के अनिवार्य तत्त्व है। यह शिक्षा भारतीय बैंकरो को इसी सकट-काल मे प्राप्त हुई ।

पथम महायुद्ध का भारतीय बैंको की दर पर प्रभाव—विश्वयुद्ध का यह प्रथम मुख्य प्रभाव बैंको की जमा मे वृद्धि के रूप मे हुआ। सभी बंको की जमा, जिनमे प्रेसीडेंसी बैंक, सयुक्त बैंक व विनिमय बैंक सम्मिलित है, ९७ ५१ करोड से १६३ ६२ करोड हो गयी। यह परिवर्तन १९१३ से १९१८ की ही अल्प अवधि मे हुआ। उपर्युक्त अको मे विनिमय बैंको की विदेशी राशि सम्मिलित नही है। इस वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि उस समय मुख्यत सूती मिलो ने बहुत लाभ उठाया क्योकि युद्ध के सचालन के लिए कपडे की काफी खपत होती थो, उस कारण युद्ध की आर्थिक अवस्था ने इस लाभ मे और अधिक वृद्धि की जो बैंको मे इकट्ठा होता गया। १९१३ व १८ के बीच प्रेसीडेंसी बैंको की जमा मे १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। सयुक्त स्कन्ध बैंको मे दस प्रतिशत व विनिमय बैंको की जमा मे ५५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। हमे यह नही भूलना चाहिए कि बैंको मे यह वृद्धि युद्ध के कारण केवल भारत मे ही नही हुई बल्कि ससार के अन्य बैंको की जमा मे भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई, जैसा कि निम्न तालिका से हमे ज्ञात होता है।

देश	१९१३ युद्ध के पूर्व	१९१७ युद्ध के समय	प्रतिशत वृद्धि
अमेरिका	२,१०१	४,०८१	९४
इग्लैण्ड	१,१०४	१,८७२	७०
जर्मनी	५४३	१,४७२	१७१
फ्रान्स	२६६	४३५	६४
कनाडा	२३३	३२०	३७
आस्ट्रेलिया	१५०	२०९	३९
हिन्दुस्तान	६५	१०७	६५
जापान	१८५	४१६	१२५

भारत मे इस जमा की वृद्धि स्थिर काल जैसी हुई, क्योंकि भारतसरकार को अपने युद्धकालीन व्यय के साथ-साथ लदन के युद्ध के दफ्तर का

और सभी व्ययो का भुगतान करना पडता था। बैंको के विनियोग मे भी काफी वृद्धि हुई, जिसके दो कारण है। प्रथम तो निर्यात व्यापार की उन्नति और दूसरा ट्रेजरी बिल व युद्धकालीन विनियोग मे बैंको का जमा करना। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि ससार के अन्य बैंको की भाँति भारतीय बैंको ने लाभाश की दर युद्ध-पूव की अपेक्षा बढा दी। १९१८ से १९२१ तक बैंको मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी जो बैंको के समृद्धि-काल की परिचायक है, पर १९२३ से ही युद्धोपरान्त का अवसाद काल आ गया। १९२४ से १९२५ तक स्थिति कुछ अवश्य सुधरी।

लगभग १४ वर्षों के अन्तर्गत ५२७ बैंक असफल हो गये जिनकी चुकता पूजी २३४ २ लाख रु० थी। अगर हम इस असफलता की १९१३ से १७ तक के सकटकाल से तुलना करे तो पता चलेगा कि इस अवसाद काल मे केवल वही बैंक असफल रहे जो कमजोर थे, क्योकि असफल होनेवाले बैंको की सख्या तो अधिक है पर उनकी चुकता पूँजी कम है।

अन्य प्रान्तो की अपेक्षा पजाब, उत्तर प्रदेश और बम्बई मे बैंक अधिक असफल रहे, क्योकि स्वदेशी आदोलन के समय इन्ही प्रदेशो मे नये बैंक खुले थे और यहाँ कपास व चाँदी, गेहूँ का अच्छा बाजार था तथा मदी काल का सबसे बुरा प्रभाव इन्ही पर पडा। अवसाद के कारण भारत जैसे कृषि-प्रधान देश मे बैंक बराबर फेल होते गये पर भारतीय सयुक्त पूँजी बाजार मन्द गति से किन्तु बराबर उन्नति करते गये, क्योकि १९३९ के अन्त तक बैंको की पूँजी मे ५ लाख से ५१ लाख की वृद्धि हुई। कुल चुकता पूँजी मे १३ करोड रु० की वृद्धि हुई और जमा मे १०१ करोड रु० की वृद्धि हुई।

इन दोनो प्रकार के बैंको को साथ-साथ देखने से पता चलता है कि १९२६ मे इनकी सख्या ७५ थी, १९३९ तक १७० हो गयी तथा इनकी जमा पूँजी १९२६ मे ६३ १५ करोड थी वह १९३९ तक ११० करोड हो गयी। १९३२ तक बैंको की उन्नति बहुत धीमी गति से हुई क्योकि अवसाद के कारण मूल्यो मे बराबर कमी होती गयी। १९२६ से ३९ तक भारतीय सयुक्त स्कन्ध धनराशि मे ४७ करोड रु० की वृद्धि हुई।

निम्न आँकडो से यह ब्यौरा और स्पष्ट हो जायगा

वर्ष	बैंको की सख्या	पूँजी	जमा	नगद राशि	बैंक मख्या	पूँजी	जमा	नगद राशि
१९२६	२८	१० ८४	५९ ६८	९ १२	४७	१ २६	३ ४७	८२
१९२७	२९	११ ०८	६० ८४	७ ७०	४८	१ २२	३ ४६	५२
१९२८	२८	११ १०	६२ ८५	८ १९	४६	१ २०	३ ५०	५२
१९२९	३३	११ ५४	६२ ७२	९ ०५	४५	१ १५	३ ५८	४५
१९३०	३१	११ ९०	६३ २५	७ ६८	५४	१ ३७	४ ३१	५२
१९३१	३४	१२ ०८	६२ २६	७ ७१	५१	१ २४	३ ८४	४७
१९३२	३४	१२ २१	७२ ३४	९ ७९	५२	१ २९	३ ९३	६८
१९३३	३४	१२ ३४	७१ ६८	१० ९२	५५	१ ३१	४ ७५	८२
१९३४	३६	१२ ६७	७६ ७७	११ १४	६९	१ ४९	५ ११	७२
१९३५	३८	१३ २०	८४ ४५	१९ १२	६२	१ ३९	५ २८	८२
१९३६	४२	१३ ९५	९८ १४	१५ २८	७१	१ ४२	५ ४६	१ ००
१९३७	३९	१२ ७८	१०० २६	१६ ८२	१०८	२ १७	८ २९	१ ३३
१९३८	४३	१३ १४	९८ ०८	१४ ००	१२०	२ ४१	८ ७२	१ २९
१९३९	५१	१३ ५६	१०० ७३	१६ ७२	११९	२ ३२	९ २७	१ ३७

इम्पीरियल बक की स्थापना और १९३४ से पहले की अवस्था— इम्पीरियल बक आफ इण्डिया की स्थापना १९२० मे भारतीय विधान के एक विशेष अधिनियम के अनुसार, जिसे इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट XLVIII कहते है, हुई तथा इसने २७ जनवरी १९२१ से अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसका निर्माण तीन प्रेसीडेसी बैको का एक मे समामेलन करके हुआ था, जिन्हे बैक आफ बगाल, बैक आफ बाम्बे व बैक आफ मद्रास कहते है। इसकी स्थापना से पहले भारत मे सयुक्त स्कन्ध बैको का विकास अखिल भारतीय आधार पर न होकर कुछ थोडे से क्षेत्र तक ही सीमित था तथा स्थानीय बैंकिग आवश्यकताओ को ही ये पूरी करते थे। इसके पहले जब-जब केन्द्रीय बैंक की स्थापना का प्रयत्न किया गया असफलता ही मिली। इसके दो कारण थे, एक तो भारतसरकार की उदासीनता व दूसरे प्रेसीडेसी बैको की आपसी फूट। पर युद्ध के समय मे इसकी आवश्यकता समझ मे आयी और १९२० तक कुछ विदेशी बैंक काफी विकसित हो गये थे ,जिन से यह आशका की जाने लगी कि यदि किसी केन्द्रीय बैंक की स्थापना न की गयी तो विदेशी बैंको का प्रभुत्व भारत मे जम जायगा, इसीलिए विशेष रूप से इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गयी। इसकी पूँजी ७५,००० हिस्सो मे विभक्त थी। प्रत्येक हिस्सा ५०० रु० का था। इसमे प्रेसीडेसी बैंको के हिस्से स्थानान्तरित कर दिये गये जिनके सभी अश पूर्ण चुकता थे।

इस बैंक का जब निर्माण किया गया तो सार्वजनिक जिम्मेदारियो के कारण सरकार का इस पर नियत्रण हो गया। मुख्यत प्रमुख अधिकारियो की नियुक्ति के क्षेत्र मे तथा आर्थिक नीतियो के निर्धारण मे इसका प्रमुख नियत्रण था। लोक-ऋण का प्रबन्धक सामान्य बैंकिग कार्य के लिए इसके अधीन रखा गया था। सरकार ने इस बात का समर्थन किया कि वह अपनी जमा बैंक को स्थानान्तरित करता रहेगा जिसके लिए कोई शुल्क न लेगा तथा बैक इन सुविधाओ के बदले अगले पाँच वर्षो मे १०० नयी शाखाएँ खोलकर बैंकिग सुविधाओ का विस्तार करेगा। मार्च १९२६ के बाद यह बैंक १०२ नयी शाखाएँ

खोलने योग्य हो गया। अधिकतर शाखाएँ वहाँ खोली गयी जहाँ अभी तक बैंकिग सुविधा उपलब्ध न थी। इस कार्य को दो भागो मे बाँट दिया गया, एक तो वह जिसे यह कर सकता था तथा दूसरा वह जिसे यह बैंक नही कर सकता था। जैसे यह नोट निर्गमित नही कर सकता था, उसका अधिकार एक मात्र सरकार के हाथ मे था।

इस बैंक का सारा कार्य सेन्ट्रल बोर्ड आफ गवर्नर्स द्वारा सचालित होता था और प्रेसीडेसी बैंको को इसकी शाखाओ के रूप मे घोषित कर दिया गया था। प्रत्येक शाखा लोकल बोर्डो के अधीन कर दी गयी। इस बैंक की नीति तथा समस्त काय-प्रणाली गवर्नर जनरल की कौन्सिल द्वारा निर्धारित होती थी।

शुरू मे इस बैंक ने अपना कार्य प्रेसीडेन्सी बैंक के ढग पर ही चलाया और विदेशी व्यापार से कोई सम्बन्ध नही रखा। इस बैंक की एक शाखा लन्दन मे खोल दी गयी। इस शाखा के द्वारा भारतीय सरकार ने ग्लैण्ड की सरकार से रुपये का लेनदेन बैंक आफ इग्लैण्ड के द्वारा शुरू कर दिया। १९२१ मे भारत सरकार का इस बैंक के सम्बन्ध मे सेक्रेटरी आफ स्टेट से समझौता हुआ। इसके द्वारा निम्नलिखित प्रतिबन्ध और सुविधाएँ इस बैंक को प्राप्त हुई।

(१) भारत सरकार का बैंको से सम्बन्धित सारा कार्य इसी बैंक द्वारा होगा।

(२) इम्पीरियल बैंक शीघ्र ही परन्तु पाँच साल के भीतर देश मे १०० नयी शाखाएँ स्थापित करेगा।

(३) समस्त राजकीय कर की व्यवस्था का भार इसी पर होगा।

इस की स्थापना के प्राय १० साल मे इसकी पूँजी लगभग ७६ करोड हो गयी, परन्तु शाखाओ के खोलने का उत्तरदायित्व यह बैंक सफलतापूर्वक न निभा सका। कुल ८८ शाखाएँ खोली गयी जिनमे ३२ शाखाएँ तो सफलतापूर्वक कार्य करती रही और शेष ५६ शाखाओ मे बराबर हानि ही होती रही। लेकिन कुछ वर्षो बाद इनकी स्थिति सुधर गयी और घाटा कुछ ही वर्षो मे पूरा हो गया, परन्तु नयी शाखाओ के खोलने की हिम्मत

न पडी। इस बैंक को सरकार से विशेष मान्यता प्राप्त होने के कारण जनता का विश्वास इसमे बढता गया और बहुत बडी मात्रा मे पूँजी का लेन-देन इसके द्वारा होने लगा। सयुक्त पूँजी वाले बैंको के विस्तार से इस बैंक के कुछ काम मे अडचन होने लगी। कही कही तो इस बैंक की सयुक्त पूँजी वाले बैंको से प्रति-स्पर्धा भी होने लगी क्योकि यह बैंक केवल सरकार के ही रुपयो का लेन-देन नही करता था बल्कि जनता के व्यापार का भी बहुत अधिक काय इसी बैंक के द्वारा होता था। फिर भी इम्पीरियल बैंक सदा यही प्रयत्न करता रहा कि लेन-देन के व्यवसाय से सयुक्त पूँजी वाले बैंको के ऊपर बुरा असर न पडे। सन् १९२७ ई० के विधान के द्वारा इम्पीरियल बैंक की कार्य-प्रणाली मे निम्नलिखित परिवर्तन कर दिये गये।

(१) यह बैंक अपनी सरक्षकता मे जहाँ उपयुक्त हो वहाँ शाखा खोल सकता है।

(२) यह बैंक विदेशी हुण्डियो का भी लेन-देन कर सकता है।

(३) पूँजी के लेन-देन पर से भी प्रतिबन्ध हटा लिये गये ।

इम्पीरियल बैंक की १९२१ से १९३४ तक की उन्नति जानने मे निम्न तालिका सहायक हो सकती है। (रुपयो की गणना लाखो मे है)

वर्ष का अन्त	प्राप्त पूजी	सचित	सरकारी जमा	व्यक्तिगत जमा	चालू पूँजी	बैंको की सख्या
१९२१	५६२	४०२	६,८०	६५,७८	१३,६८	८८
१९२२	५६३	४२३	१४,१६	५७,००	१५,०७	१०६
१९२३	५६३	४४५	८,५०	७४,२०	१५,०१	१४९
१९२४	५६३	४६८	७५०	७६,७१	१५,६०	१६५
१९२५	५६३	४८३	५,४७	७७,८३	१७,४७	१८१
१९२६	५६३	५००	६,४५	७३,९०	२०,९०	१८६
१९२७	५६३	५१३	७,२०	७२,०७	१०,८९	१९८

१९२८	५६३	५२३	७,९५	७१,३०	१०,५८	२०२
१९२९	५६३	५३३	७,६०	७१,६४	१४,००	२०३
१९३०	५६३	५३९	७,३७	७६,६०	१३,०४	२०६
१९३१	५६३	५,००	८,३२	६३,८६	११,०४	२०१
१९३२	५६३	५,१७	७,०७	६८,३६	२०,९७	२०१
१९३३	५६३	५,२३	६,४४	७४,१३	१८,६०	२०२
१९३४	५६३	५३५	६,७२	७४,२८	१८,९७	२२१

उपर्युक्त तालिका के विश्लेषण से यह पता चलता है कि बैक की चुकता पूँजी तो यथावत् स्थिर रही पर सचय १९३० तक बराबर बढता चला गया, १९३१ मे थोडी सी कमी हुई। शायद अवसाद-काल के कारण ऐसा हुआ। फिर अगले तीन वर्षो मे वह कमी पूरी हो गयी। जनता का जमा धन एक ही साल मे ११२ प्रतिशत बढ गया। १९३१ से जमा मे बराबर वृद्धि होती रही तथा नकद जमा की स्थिति भी सुविधाजनक रही, क्योकि बैक की नयी-नयी शाखाएँ हर साल खुलती रही है।

१९२६ के प्रारम्भ तक इम्पीरियल बैक ने विनिमय बक व नये बैको की अपेक्षा अपनी दूनी शाखाएँ कर ली। इसमे कोई सन्देह नही कि इन दिनो इस बैक ने जो उन्नति की उसका श्रेय अधिकतर सरकार को है, क्योकि जनता के ऋण तथा कोषागार से सम्बन्धित सभी कार्य इसके अधीन कर दिये गये थे। साथ ही रिजर्व बैक की स्थापना से पहले तो बहुत से बडे बैक अपनी जमा राशि इसी बैक मे रखते थे तथा इसे अपना अगुआ मानते थे।

१९२६ मे जब केन्द्रीय बैक को स्थापना का प्रश्न चल रहा था, यह अनुमान किया गया कि इम्पीरियल बैक को ही केन्द्रीय बैक का रूप दे दिया जायगा। परन्तु हिल्टन यग कमीशन ने इसका विरोध

किया। यह आशका की गयी कि इससे व्यापारिक बैंकिग के विकास को धक्का लगेगा, क्योकि व्यापारिक बैंक व केन्द्रीय बैंक का कार्य साथ-साथ नही चल सकता।

भारतीय मत का एक पक्ष तो इस बात मे सहमत था कि इम्पीरियल बैंक को ही पूर्ण रूप से केन्द्रीय बैंक बना दिया जाय तथा इस मत को पुष्ट करने के लिए वह बैंक आफ फ्रान्स का उदाहरण प्रस्तुत करता था, क्योकि यह बैंक व्यापारी बैंक न होते हुए भी व्यापारिक बैंक के सभी काम करता है। इसी प्रकार कामनवेल्थ बैंक आफ आस्ट्रेलिया, १९२४ के पहले जब यह केन्द्रीय बैंक न था, व्यापारिक बैंको के कार्य करता था तथा उसके बाद भी अपने पहले के सभी कार्य करता रहा। पर हम भारत के मुद्रा-बाजार की फ्रास से तुलना नही कर सकते। दोनो की परिस्थितियो मे असमानता है। वहाँ बिना किसी दबाव के व्यापारिक बैंक अपना अधिक से अधिक बाकी केन्द्रीय बैंक के पास रखते है तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रदत्त अनेक सुविधाओ का उपयोग करते है। केन्द्रीय बैंक को वे अपना अगुआ मानते है, क्योकि उन्होने आपसी मदद व एक दूसरे के प्रति शुभेच्छा की परम्परा कायम कर ली है और उसी का अनुसरण करते है। पर भारत मे ऐसी अवस्था का सर्वथा अभाव है। इसके विपरीत अनेक बैंक इम्पीरियल बैंक को प्रतिद्वन्द्वी समझते थे।

हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि जैसे-जैसे समय बीतता गया बैंकिग के विकास के साथ-साथ फ्रास आदि देशो के केन्द्रीय बैंक भी अपना व्यापारिक बैंकिग का कार्य कम करते गये तथा अपना ध्यान केन्द्रीय बैंकिग के कार्यो की दिशा मे ही रखने गये, क्योकि बैंक आफ फ्रास बहुत साल तक अग्रिम देने व बिल भुनाने मे अन्य बैंको का जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी था, पर बाद मे यह कार्य स्वत कम करता गया।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि एक पृथक् केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव बुद्धिमत्ता थी। इम्पीरियल बैंक को केवल व्यापारिक बैंकिग के विकास के लिए छोड दिया गया। इम्पीरियल बैंक पर जो सब से अधिक दोष लगाया गया वह यह है कि इस बैंक ने अपनी सुदृढ

स्थिति के कारण अन्य बैंको का बाजार हड़प करते हुए अनुचित फायदा उठाया। क्योंकि सरकार से इसका एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो गया था तथा इसका प्रबन्ध मुख्यत विदेशियो के हाथ मे था, अत-यह अपने लाभ के लिए सभी कार्य करता था और राष्ट्र के हित की अव-हेलना करना इसके लिए स्वाभाविक था ।

रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद की स्थिति—रिजर्व बैंक की स्थापना सन् १९३४ मे हो जाने से इम्पीरियल बैंक के स्वरूप मे अन्तर आ गया। इम्पीरियल बैंक एमेंडमेंट ऐक्ट १९३४ के अनुसार यह अब सरकारी बैंक न रह गया और न सरकार इसके प्रबन्ध मे कोई दिलचस्पी ले सकती थी। भारत सरकार केन्द्रीय बोर्ड मे अपना एक प्रतिनिधि भेज सकती थी, पर उसे मत-दान का कोई अधिकार न रह गया। इस बैंक पर पहले जो थोडे से बैंकिग कार्यो के प्रतिबध लगाये गये थे वे हटा लिये गये। इस ऐक्ट के अनुसार यह बैंक जहाँ चाहे वहाँ शाखा खोलने के लिए स्वतन्त्र हो गया। विदेशी विनिमय कार्य करने की इसे स्वतन्त्रता दे दी गयी। साथ ही साथ विदेश से यह ऋण भी ले सकता है। यह उन विदेशी विनिमय-पत्रो का क्रय-विक्रय भी कर सकता है जो कृषि के लिए सामयिक आर्थिक सहायता के सबध मे लिखे गये हो तथा जिनकी अवधि नौ महीने की हो। और अगर अन्य प्रकार की हो तो वह अवधि छ महीने होनी चाहिए। अब इसे परिकाल्पनिक रेहन पर अग्रिम धन देने की स्वतन्त्रता मिल गयी। अब यह रिजर्व बैंक आफ इडिया के अश की प्रतिभूति पर भी ऋण दे सकता है तथा सीमित दायित्व वाली कम्पनियो के अश की जमानत पर भी ऋण दे सकता है। पर केन्द्रीय सरकार से इसके लिए अनुमति लेनी होती है।

वास्तव मे देखा जाय तो रिजर्व बैंक आफ इडिया की स्थापना ने इम्पीरियल बैंक को मुद्रा-बाजार मे सही रूप मे प्रकट कर दिया। रिजर्व बैंक के एजेन्ट के रूप मे यह अब भी उस स्थान पर कार्य करता है जहा रिजर्व बैंक की शाखाएँ नही है। थोडी सी कमी यह हुई है कि जनता को पहले सरकारी बैंक के रूप मे यह जितना आकृष्ट करता था उतना

अब नही कर पाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारतसरकार का इसे बहुत दिनो तक सरक्षण प्राप्त था, क्योकि सरकार इसके पास अपनी जमा बिना किसी ब्याज के रखती थी। पर अधिकतर जनता का विश्वास इस बैंक मे इस लिए था कि इसने प्रति वर्ष अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किया तथा अपनी सम्पत्ति की तरलता उच्च कोटि की बनाये रखी। अपने केन्द्रीय बैंक के स्वरूप तथा सीमित मात्रा मे ऋण देने की क्षमता के कारण भी इसे अपनी सम्पत्ति तरल रखनी पडती थी। शुरू मे इस बैंक ने अपनी शाखाओ का विस्तार करने की नीति अपनायी, जिससे इसका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया, इसलिए यह देश के कोने कोने मे बैंकिग सुविधा प्रदान कर सका। १९२६ मे इसकी १८६ शाखाएँ थी जो १९३९ तक बढकर ३८१ हो गयी। १९३५ से यह बैंक साधारण बैंकिग के कार्य के साथ विदेशी बिल का कार्य भी कर रहा था। फिर भी अपने विस्तृत साधनो के कारण व रिजर्व बैंक के एजेन्ट होने के कारण इसकी स्थिति दूसरो से कुछ भिन्न थी। शुरू के कुछ वर्षो मे तो व्यापारी लोग बैंक बिलो के पुन भुगतान या ऋण आदि इसी से लेना पसन्द करते थे, रिजर्व बैंक से नही। शुरू के तीन वर्षो मे रिजर्व बैंक का बिल का कार्य एकदम शून्य रहा तथा ऋण व अग्रिम का कार्य बहुत थोडा हुआ। इसके विपरीत इम्पीरियल बैंक की स्थिति इन मामलो मे अच्छी रही।

उपर्युक्त सक्षिप्त इतिहास से यह पता चलता है कि अनेक कठिनाइयो के होने पर भी भारत मे बैंकिग का विकास धीरे धीरे पर बराबर होता रहा। सयुक्त स्कन्ध बैंको के विकास से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। १९३९ तक उनकी पूँजी तथा सचय ५ लाख का था जो बाद मे बढकर ५१ लाख हो गया तथा उनकी कुल चुकता पूँजी १३ करोड हो गयी तथा जमा बढकर १०१ करोड रुपये हो गयी। फिर भी इस उन्नति का यह नियोजित व सुव्यवस्थित रूप नही कहा जा सकता। इनका विकास अव्यवस्थित रूप से हुआ है, क्योकि ३८ प्रतिशत शहर जिनकी जनसख्या २०,००० से भी अधिक थी,

१९३१ के अन्त तक बिना किसी बैंकिग की सुविधा के थे। इनके दफ्तर पजाब, उ० प्र०, बबई, मद्रास, बगाल मे तो उचित रूप से विस्तारित थे पर बिहार उडीसा, मध्य प्रदेश, असम आदि प्रान्तो मे इनका अधिक अभाव था। बैंको के इस असमान विकास का यह कारण था कि इनकी उन्नति थोडे से लोगो के हाथो से होती थी। परिणाम यह होता था कि जिस शहर मे किसी बैंक ने अपनी कोई शाखा खोली तो दूसरे बैंक उसका अनुकरण करके अपनी-अपनी शाखाएँ उसी शहर मे खोलते थे। बडे बैंक अपनी शाखाऐं बडे शहरो मे ही स्थापित करते थे। इसलिए दो तिहाई शहरो को बैंकिग सुविधा के लिए छोटे बैंको पर निर्भर रहना पडता था। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश बैंक भारतीय रियासतो मे अपनी शाखाएँ खोलने के पक्ष मे भी न थे, क्योकि वैधानिक व शासन सम्बन्धी कठिनाई होती थी तथा रियासतें इम्पीरियल बैंक को अपने क्षेत्र मे शाखाएँ खोलने के लिए कुछ सुविधाऐं भी नही देती थी।

अध्याय ४

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

सरकारी बैंक के रूप मे इम्पीरियल बैंक के किये जाने वाले कार्यों को अपूर्ण पाकर तथा भारतीय साख-प्रणाली के दोषो पर ध्यान देते हुए देश के विभिन्न अधिकारियो एव अर्थशास्त्रियो ने यह आवश्यकता प्रकट की कि देश मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना होनी चाहिए। उनका कहना था कि केन्द्रीय बैंक की स्थापना हो जाने से भारत के आन्तरिक एव बाह्य व्यापार की प्रगति मे बाधक होने वाले निम्न दोष दूर हो सकेगे।

१ भारतीय मुद्रा की आन्तरिक एव बाह्य क्रय-शक्ति मे स्थिरता केन्द्रीय बैंक की ही सहायता से की जा सकती है। मौलिक पतन, जैसे अकाल, बाढ एव युद्ध आदि के कारण उत्पन्न होने वाली आन्तरिक क्रय-शक्ति की अस्थिरता यद्यपि तत्कालीन इम्पीरियल बैंक की सहायता से दूर की जा सकती थी, किन्तु माग एव पूर्ति के असन्तुलन के कारण होनेवाली क्रय-शक्ति की अस्थिरता को केवल एक केन्द्रीय बैंक ही सफलतापूर्वक दूर कर सकता था। मुद्रा की क्रयशक्ति उसी समय स्थिर रह सकती है जब कि देश मे मुद्रा का चलन उसके विनिमय के माध्यम के रूप मे होनेवाली आवश्यकता द्वारा निश्चित किया जाय। यह कार्य केन्द्रीय बैंक की कार्य-प्रणाली मे ही सम्भव है। बाह्य व्यापार के क्षेत्र की मौद्रिक क्रय-शक्ति की स्थिरता किसी देश की आन्तरिक क्रय-शक्ति की स्थिरता पर निर्भर होती है। यह बात पूर्णत सत्य है कि यदि देश के आन्तरिक व्यापार मे मुद्रा की क्रयशक्ति स्थिर हो, तो बाह्य व्यापार मे भी उसकी क्रयशक्ति स्थिर रहेगी। यदि भारत मे निर्मित वस्तुओ का मूल्य विश्व-बाजार के मूल्य की अपेक्षा बढता है तो भारत का आयात-व्यापार उत्थान की ओर अग्रसर होगा, परन्तु दूसरी ओर वही स्थिति निर्यात व्यापार के लिए अभिशाप बन जायगी। इस

प्रकार निर्यात की अपेक्षा आयात बढ जायगा और परिणामस्वरूप विदेशी व्यापार प्रतिकूल हो जायगा। इसी प्रकार भारत मे निर्मित वस्तुओ का मूल्य विदेशी वस्तुओ के मूल्य की अपेक्षा घट जाने पर देश का निर्यात व्यापार तो बढेगा किन्तु आयात-व्यापार बहुत नीचे गिर जायगा। ये दोनो स्थितियाँ देश के लिए अहितकर है। केन्द्रीय बैंक की सहायता से यह कठिनाई दूर की जा सकती है, क्योकि आयात एव निर्यात व्यापार को सन्तुलित बनाये रखने के लिए देश मे निर्मित वस्तुओ के मून्य मे कमी या वृद्धि द्वारा मूल्य नियत्रित किया जा सकता है। यह कार्य केन्द्रीय बैंक नोट प्रकाशन के एकाधिकार और साख-नियत्रण की प्रणाली को अपनाकर सम्पादित कर सकेगा।

आवश्यकता पडने पर केन्द्रीय बैंक उचित सीमा तक सोने तथा स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय करके मुद्रा के बाह्य मूल्य अर्थात् विनिमय दर को स्थिर रख सकता है। मुद्रा की बाह्य स्थिरता उसकी आन्तरिक मूल्य-स्थिरता पर आधारित होती है। देश मे नोटो का निर्गमन उचित प्रतिशत मे सोना सुरक्षित रखकर ही होता है और यही सुरक्षित सोना देश के विदेशी व्यापार को अनुकूल बनाने मे सहायक सिद्ध होता है।

२ भारतीय बैंकिग प्रणाली के आधारभूत दोषो को दूर कर मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता बनाये रखने मे भी केन्द्रीय बैंक सहायक होता है। सन् १९३५ तक तो बैंकिग प्रणाली की कोई समुचित व्यवस्था नही थी। किसी भी आकस्मिक घटना पर, जैसे बडी रकम की अचानक निकासी होने अथवा आर्थिक क्रान्ति के आ जाने पर बैंकिग-व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि नोटो का प्रकाशन बिना किसी प्रकार का सुरक्षित कोष रखे ही किया जाता था। ऋण देते समय भी सोने आदि के रूप मे कोई जमानत नही रखी जाती थी। इस प्रकार की व्यवस्था कही भी थी तो वह अपर्याप्त थी। देश के व्यापारिक एव विनिमय बैंक अपनी तरल सम्पत्ति की सहायता से, बिना सुरक्षा का ख्याल किये ही बडे-बडे व्यापार प्रारम्भ कर देते थे। इस

प्रकार उनकी सारी सम्पत्ति व्यापार मे फस जाती थी और किसी भी आकस्मिक घटना, जैसे अकाल, बाढ, युद्ध अथवा आर्थिक क्रान्ति के समय वे परिस्थिति को सभाल न पाते थे। परिणाम-स्वरूप उन्हे अपना कार्य बद कर देना पडता था।

किसी भी आकस्मिकता के समय जनता को सन्तुष्ट रखने का एक मात्र तरीका यह है कि जनता को उसकी माग के अनुसार ही उचित समय पर भुगतान कर दिया जाय। इस नीति के अन्तर्गत बैको को एक-दूसरे बैक की सहायता लेनी पडती है। परन्तु प्रत्येक बैक की तरल पूँजी कम होने के कारण वे एक-दूसरे की सहायता नही कर पाते थे और वे स्वय अपनी स्थिति को मजबूत करने के प्रयास मे लग जाते थे। इस प्रकार उनमे आपसी शत्रुता के भाव उत्पन्न हो जाते थे। किसी भी बैक से जनता का विश्वास उठ जाने पर सभी बैको पर उसका बहुत ही बुरा प्रभाव पडता था। बैक विघटित होने लगते थे। इसका कारण यह था कि किसी बैक को किसी अन्य बैक अथवा किसी अन्य आर्थिक सस्था से कोई सहायता नही मिलती थी।

यद्यपि सन् १९२१ से १९३५ तक इम्पीरियल बैक ने बहुत कुछ एक आर्थिक सस्था के रूप मे कार्य सम्पादित किया किन्तु फिर भी वह पूर्ण रूप से बैको के बैक का कार्य न कर सका। अन्य बैको पर उसका कोई नियन्त्रण भी न था, क्योकि उनके द्वारा बहुत ही थोडी रकम सुरक्षित कोष के रूप मे इम्पीरियल बैक मे रखी गयी थी।

ऐसी स्थिति मे इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि प्रत्येक बैक द्वारा एक निश्चित रकम सुरक्षित कोष के रूप मे रिजर्व बैक नामक केन्द्रीय सस्था के पास जमा की जाय। आर्थिक कठिनाइयो मे इस कोष का प्रयोग किया जा सकता है। केन्द्रीय बैक इस रकम से किसी भी बैक की, उसकी स्थिति अव्यवस्थित एव डावाडोल होने पर समुचित सहायता तो करेगा ही, साथ ही इसी रकम की आड मे नोटो का प्रकाशन करके देश के आन्तरिक व्यापार को भी सुव्यवस्थित रख सकेगा। केन्द्रीय बैक की कार्य-प्रणाली के अन्तर्गत जनता का विश्वास

प्रत्येक बैंक पर बना रहता है, जिससे लोग नकद रुपये के स्थान पर साखपत्रो को स्वीकार करने मे सकोच नही करते। इस प्रकार वह रकम अन्य महत्वपूर्ण कार्यो मे लगायी जा सकती है और विदेशी व्यापार मे भी भुगतान के लिए उसकी सहायता ली जा सकती है।

केन्द्रीय बैंक के पास सुरक्षित कोष रखने से यह भी लाभ होता है कि मुद्रा की गतिशीलता अधिक बढ जाती है। एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया सरलता से स्थानान्तरित किया जा सकता है और रुपये को, जो कि एक स्थान पर अनावश्यक सा है अथवा कम उपयोगी है, दूसरे स्थान को भेजकर उसकी उपयोगिता अत्यधिक बढायी जा सकती है और रुपये की बढती हुई माग की पूर्ति की जा सकती है।

इस प्रणाली के अन्तगत बैंको की साख-नीति मे काफी लोच लायी जा सकती है तथा समय समय पर साख आवश्यकतानुसार घटायी-बढायी जा सकती है। विदेशो मे तो इस तरह का कोई भी सरकारी नियन्त्रण नही है। हा इतना अवश्य है कि केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंको के बीच एक समझौता होता है और उसी के अनुसार केन्द्रीय बैंक के पास सुरक्षित कोष रखे जाते है। किन्तु सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे विधान द्वारा यह आवश्यक कर दिया गया है कि प्रत्येक बैंक एक निश्चित प्रतिशत कोष केन्द्रीय बैंक के पास अवश्य रखे। भारतवर्ष मे बैंको की सख्या कम होने के कारण केन्द्रीय बैंक की शक्ति को मजबूत करने के लिए तथा उसे बैंको के बैंक (पोषक बैंक) के रूप मे कार्य करते रहने के लिए प्रत्येक बैंक को एक निश्चित रकम कोष के रूप मे उस के पास रखना विधान द्वारा अनिवार्य कर दिया गया है।

३ देश की साख-नीति को नियत्रित रखने एव उसका समुचित प्रबध करने के लिए भी एक केन्द्रीय बैंक का होना आवश्यक हो गया। यह प्रबध तभी ठीक रहेगा जब कि मुद्रा एव साख को व्यापार और उद्योग को आवश्यकता के अनुसार घटाया-बढाया जा सके। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक मुद्रा और साख पर नियन्त्रण करके वर्तमान मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखने मे समर्थ होता है।

अब तक तो साख-नियत्रण का कार्य इम्पीरियल बैंक करता था और नोट निर्गमन का कार्य सरकार करती थी । इस नीति से साख-नियत्रण मे बाधा पडती थी । इसी लिए रिजर्व बैंक नामक एक केन्द्रीय सस्था स्थापित करके ये दोनो कार्य उसे ही सौपने की बात सोची गयी । इस सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक के निम्न अधिकार भी निश्चित किये गये ।

(अ) नोट-निर्गमन का एकाधिकार ।

(ब) बैंको की माग-देनदारी (Demand Liability) पर ५% तथा कालिक देनदारी (Time Liability) पर २% जमा लेने का अधिकार माना गया, जिससे बैंको एव उनकी साख पर नियत्रण रखा जा सके ।

(स) सरकारी कोष की राशि भी इस बैंक मे जमा रहे ।

(द) बिलो की पुन कटौती (Rediscountry) करने का अधिकार इसे प्राप्त हो ।

(य) समय-समय पर आवश्यकतानुसार इसे खुले बाजार की क्रिया (open market operction) अपनाकर सरकारी प्रतिभूतियो के क्रय-विक्रय करने का भी अधिकार दिया जाय ।

(र) समाशोधन-गृह (cleaning home system) का कार्य भी इसे सौपा गया है ।

इन सबके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक अपने विधान द्वारा प्रत्येक बैंक के सदस्यो को बाध्य करे कि वे अपने दायित्व को द्रव्य के रूप मे उस के पास जमा कर दिया करें ।

४ अब तक देश के बैंको, मुद्रा-मन्डियो, स्वदेशी बैंकरो तथा अन्य प्रकार की मौद्रिक सस्थाओ की आर्थिक स्थिति का ठीक एव पूर्ण विवरण जनता के सम्मुख प्रकाशित नही हो पाता था । अत इनकी स्थिति से सम्बन्धित आकडो के प्रकाशन का कार्य-भार भी रिजर्व बैंक को सौपा गया । रिजर्व बैंक के इस कार्य मे सरकार भी सहायता पहुचाती है । आरम्भ मे केन्द्रीय बैंक का यह कार्य बहुत समय तक सन्तोषजनक नही था इसका कारण यह था कि विनिमय-बैंक अपने विस्तृत विवरण प्रकाशित

नही कराते थे। वे केवल भारत मे जमा की गयी रकम तथा नकदी का ही सक्षिप्त लेखा डाइरेक्टर जनरल कार्माशियल इन्टैलीजेन्स, कलकत्ता के द्वारा प्रकाशित कराते थे। बहुत से आकडे तो डाइरेक्टर जनरल द्वारा प्रकाशित की जाने वाली विवरणी के द्वारा भी प्राप्त न होते थे, विशेष कर उन बैंको का विवरण प्राप्त न होता था जिनकी पूँजी एक लाख रुपये से कम थी।

केन्द्रीय बैंक अब एक साख्यिकीय सूची तैयार करता है जिसमे सभी प्रकार के बैंको की स्थिति से सम्बन्धित आकडे दिये रहते है। फिर भी विनिमय-बैंको के भारतीय व्यापार सम्बन्धी आकडे अलग से नही प्राप्त हो पाते है। भारतीय सह-कारिता आन्दोलन से सम्बन्धित एक साख्यि-कीय सूची भी यह केन्द्रीय बैंक प्रकाशित करता है।

५ इस बात की भी आवश्यकता हुई कि कोई सस्था सरकारी राशि को सुरक्षित रखकर सरकार की आज्ञानुसार उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का प्रबध एव विदेशी विनिमय का क्रय सरकार के आर्थिक प्रतिनिधि के रूप मे करे। यह कार्य रिजर्व बैंक को सौपा गया, क्योकि यह मुद्रा-बिपणियो (money markets) से बहुत ही सुगम होता है। रिजर्व बैंक सरकारी ऋण-पत्रो तथा ट्रेजेरी-बिलो का भी निपटारा करता है। यह भारत सरकार की ओर से लदन मे होने वाले भारत सम्बन्धी व्ययो (Home expenses) का भुगतान करता तथा समय समय पर सरकार को आर्थिक सलाह देने का कार्य करता है।

६ कृषि के क्षेत्र मे मौद्रिक व्यवस्था करने एव समय समय पर होने वाली कृषको की मौद्रिक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए कोई सस्था न थी, इस लिए कृषि की अर्थव्यवस्था का कार्य भी रिजर्व बैंक के हवाले किया गया। इस कार्य के लिए अलग से वह एक कृषि-साख विभाग (Agriculturel credit Department) खोले हुए है। कृषि के सहायतार्थ रिजर्व बैंक निम्न कार्य करता है—

(क) कृषको की सामयिक सहायता के लिए सहकारी बैंक द्वारा

निर्गमित विनिमय बिलो एव प्रतिज्ञा-पत्रो (प्रामेसरी नोटो) को समय से पहले ही रिजर्व बैंक भुना देता है। इसके लिए वह कुछ छूट लेता है।

(ख) फसलो को गिरवी रखकर सहकारी समितियो द्वारा निर्गमित प्रतिज्ञा-पत्रो पर कृषको को ऋण देने की व्यवस्था भी रिजर्व बैंक करता है।

(ग) सहकारी समितियो के साख-पत्रो (क्रेडिट) मनीको स्वीकार कर रिजर्व बैंक उन्हे केन्द्रीय मुद्रा विपणियो मे कार्य करने की अनुमति देता है।

(घ) रिजर्व बैंक, सरकार की जमा की राशि का एक निश्चित भाग बिना ब्याज के ही प्रान्तीय सहकारी बैंको को दे सकता है।

७ देश की बैंकिग प्रणाली पर समुचित नियत्रण रखने के लिए रिजव बैंक जैसी एक केन्द्रीय सस्था की आवश्यकता थी। इसको रिजर्व बैंक पूर्णतया पूरा करता है। देश के आन्तरिक व्यापार को साख सम्बन्धी सुविधाएँ भी केन्द्रीय बैंक प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक व्यापार की मौद्रिक आवश्यकता को यह पूरा करता है। जहा कही केन्द्रीय बैंक की शाखाएँ नही है वहा देशी बैंको को यह अपना प्रतिनिधि बना देता है। यदि देशी बैंक इसकी शर्तो को पूरी नही कर पाते है तो कुछ बैंक मिलकर एक एसोसियेशन बना लेते है। यही एसोसियेशन केन्द्रीय बैंक की शर्तो को पूरा करके उसका प्रतिनिधि बन सकता है। आवश्यकता पडने पर रिजर्व बैंक अपने इन प्रतिनिधियो को रुपया अग्रिम देता है तथा उनके द्वारा प्रसारित हुण्डियो को भी भुनाता है। इन प्रतिनिधियो को उनकी सेवाओ के लिए कुछ कमीशन भी रिजर्व बैंक देता है। इस प्रकार जनता मे साख-पत्रो के प्रति विश्वास बना रहता है।

स्वदेशी बैंकरो को, जो पूर्णतया स्वतत्र थे, नियत्रण मे लाने का कार्य-भार भी रिजर्व बैंक को सौपा गया, क्योकि इस कार्य के लिए केन्द्रीय बैंक ही उपयुक्त समझा गया।

८ अन्य देशो ने केन्द्रीय बैंक स्थापित कर लिये थे। इसलिए उनके साथ मौद्रिक होड मे चलने के लिए भारत मे भी एक केन्द्रीय

बैंक स्थापित करना आवश्यक हो गया । इसके अतिरिक्त देश के बैंकिग विकास की गति का सूक्ष्म निरीक्षण एव सचालन भी केन्द्रीय बैंक ही कर सकता है।

यदि पिछले ५० वर्षो मे विश्व के बडे बडे व्यापारिक देशो मे हुई उलट-फेर पर दृष्टि डाली जाय तो केन्द्रीय बैंक की स्थापना का महत्व और भी अधिक स्पष्ट होगा । सन् १९१३ के पूर्व सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के देशो एव विदेशी व्यापार मे एक भयानक क्राति आ गयी थी। वह पतन की ओर चला जा रहा था। किन्तु सन् १९१३ मे एक केन्द्रीय अधिकोषण प्रणाली की व्यवस्था हो जाने से अमेरिका आज विश्व मे सबसे शक्तिशाली राष्ट्र बना हुआ है।

इन उपर्युक्त कारणो से सन् १९३४ मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट पास किया गया। उसी के अनुसार अप्रैल सन् १९३५ मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना हुई।

सरकारी बैंक बनाम अशधारियो का बैंक—सन् १९३४ मे की गयी प्रतिनिधि समिति की सिफारिशो पर ज्यो ही रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट पास हुआ और बैंक ने सन् १९३५ मे अपना कार्य प्रारम्भ किया, यह प्रश्न उठ खडा हुआ कि यह सरकारी बैंक हो अथवा अशधारियो का बैंक। इस सम्बन्ध मे काफी वाद-विवाद चला। अशधारियो के बैंक के रूप मे इसका समर्थन करने वालो ने निम्न तर्क प्रस्तुत किये ।

१ विश्व के २८ केन्द्रीय बैंको मे से २२ तो अशधारियो के बैंक है। शेष ६ बैंक जो सरकारी बैंक के रूप मे कार्य करते है उन मे एक निश्चित सीमा के पश्चात् राज्य कोई हस्तक्षेप नही कर सकता।

२ देश के केन्द्रीय बैंक के कतव्य एव अधिकारो पर किसी प्रकार का राजनीतिक प्रभाव न पडे तो अधिक उत्तम होगा। मुद्रा-प्रसार का काय मुद्रा-प्रकाशन के कार्य से अलग ही रखना ठीक होगा । मुद्रा का सब से अधिक उपयोग सरकार करती है किन्तु फिर भी रिजर्व बैंक का नियत्रण सरकार के हाथ मे चले जाने पर अनेक प्रकार की गडबडियो की सम्भावनाएँ है । प्रथम विश्वयुद्ध के समय बैंको से अधिकाधिक मात्रा

मे पत्र-मुद्रा प्रकाशित कराकर सरकार ने इस प्रकार का अनुचित लाभ उठाया था। अत मुद्रा एव साख के कार्य मे रिजर्व बैंक को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

३ अशधारियो का यह विचार था कि सचालको द्वारा प्रदत्त धन के लिए वे पूर्ण सचालकता वहन करे तथा अशधारी भी अपने द्वारा दिये गये धन के लिए स्वय उत्तरदायी हो।

४. अशधारियो के बैंक होने का एक गुण यह है कि इसके सचालको का चुनाव प्रत्येक प्रदेश से होगा। इससे देश के सभी प्रदेशो से रिजर्व बैंक को उचित सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

५ बैंक की कार्यकारिणी समिति के सदस्यो तथा उच्च पदाधिकारियो की नियुक्ति मे सरकार का हस्तक्षेप एक अवैधानिक कार्य है।

६ विधान-सभा के सदस्यो को अपने कार्य के अतिरिक्त रिजर्व बैंक के सचालन का कार्य भी करना न तो सम्भव है और न वह ठीक से हो ही सकेगा।

७ रिजर्व बैंक पर केवल पूँजीपतियो का ही एकाधिकार होना रोकने के लिए भी आवश्यक था कि बैंक के कुल अशो को सारी जनता मे बाट दिया जाय तथा अशधारियो के मतदान अधिकार पर समुचित प्रतिबध लगा दिया जाय।

इन सब तर्को के फलस्वरूप सन् १९३५ मे रिजर्व बैंक को अशधारियो का बैंक घोषित किया गया। किन्तु इसे सरकारी बैंक बनाने के पक्ष मे वाद-विवाद चलता ही रहा। फरवरी सन् १९४७ मे रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव पुन केन्द्रीय विधानसभा मे प्रस्तुत किया गया। राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे निम्न युक्तिया पेश की गयी।

१—रिजर्व बैंक के प्रमुख कार्यो को निजी अशधारियो एव निजी सचालको के हाथ मे रहने देना ठीक नही है, क्योकि वे अपने हितो की ओर ही अधिक ध्यान देगे।

२—रिजर्व बैंक के अधिकतर अशधारी यूरोपियन थे इस लिए बैंक पर यूरोपियनो का एकाधिकार हो जाने की सम्भावना थी।

३—जिन देशो मे केन्द्रीय बैंक अशधारियो के हाथ मे है वहाँ इस बैंक की मौद्रिक नीति निर्धारण के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से एक गवर्नर तथा एक डिप्टी गवर्नर रखना पडता है। इस लिए इसे एक राष्ट्रीय सस्था ही बना देना ठीक होगा।

४—-विश्व के अधिकतर देशो मे सरकार की आर्थिक एव मौद्रिक नीति निर्धारण की सुविधा के लिए केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण हो चुका था, इसलिए भारत मे भी राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता महसूस की गयी।

५—युद्ध के पश्चात् जनसाधारण के जीवन-स्तर को ऊचा करने एव उसकी विषमता दूर करने के लिए आर्थिक नियोजन की अत्यत आवश्यकता हुई। ऐसी योजनाओ की सफलता के लिए भी केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक हो गया।

६—स्वदेशी बैंकरो पर नियत्रण स्थापित करने तथा भारतीय मुद्रा-बाजार के दोषो को दूर करने के लिए रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक था। साथ ही साथ राष्ट्रीय महत्व वाली व्यापारिक सस्थाओ पर राज्य का ही स्वामित्व अपेक्षित था।

७—किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था का राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार आर्थिक परिवर्तनो के अनुसार राजनीति मे परिवर्तन करना पडता है उसी प्रकार राजनीतिक परिवतनो के अनुसार देश की आर्थिक एव मौद्रिक नीतियो मे भी परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टिकोण से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण वाछनीय हो गया।

इस प्रकार रिजर्व बैंक का केन्द्रीय बैकिग का कार्य तथा मुद्रा नियत्रण का कार्य सरकार के अधीन कर देना अधिक विवेकपूण लगता है।

८—युद्ध के पश्चात् बढती हुई बेरोजगारी को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति पर नियत्रण रखने के निमित्त भी रिजर्व बैंक को मरकारी स्वामित्व मे रखना आवश्यक था।

९—विदेशो से समुचित सहयोग प्राप्त करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एव अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से सम्बन्ध स्थापित करने और उससे लेन-देन

करने के लिए रिजर्व बैक का राष्ट्रीयकरण होना ही ठीक था।

१०—देश की विभिन्न प्रकार की मौद्रिक सस्थाओ एव अधिकोषणो से आवश्यक सूचनाए सगृहीत करने की सुविधा की दृष्टि से भी रिजर्व बैक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक समझा गया।

११—यह भी आवश्यक समझा गया कि जनता द्वारा बैको मे जमा किये गये धन से होने वाला लाभ तथा पत्र-मुद्रा के प्रकाशन से होने वाला लाभ जन-हित की वृद्धि के विचार से जन-कोष (ट्रेजरी) मे जमा किया जाय।

उपर्युक्त कारणो से १ जनवरी सन् १९४९ को रिजर्व बैक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। अशधारियो के १०० रुपये वाले अश के लिए सरकार ने ११८ रुपया १० आना भुगतान देना स्वीकार किया। १०० रुपये के लिए तो ३ रु० वार्षिक ब्याज की दर वाले सरकारी बाण्ड निर्गमित किये गये और शेष राशि का नकद भुगतान किया गया। सन् १९३४ वाले रिजर्व बैक आफ इण्डिया ऐक्ट मे भी आवश्यक सशोधन कर दिया गया।

रिजर्व बैक का सङ्गठन

प्रारम्भ मे इसका सगठन, प्रबध एव सचालन रिजर्व बैक आफ इण्डिया ऐक्ट, १९३४ के अन्तर्गत होता रहा है। परन्तु सन् १९४९ मे इसका राष्ट्रीयकरण हो जाने के पश्चात् अब इसका प्रबन्ध एव सचालन १९४९ वाले सशोधित विधान के अनुसार होता है।

बैक के गवर्नर की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है और समय-समय पर उसकी सलाह से जनहित को ध्यान मे रखकर बैक को आवश्यक आदेश भी देती है। बैक का केन्द्रीय बोर्ड उन आदेशो के अनुसार ही बैक का सचालन करता है। बोर्ड के आदेशो का अनुगमन करते हुए बैक के प्रबन्ध का अधिकार बैक के गवर्नर को प्राप्त है।

राष्ट्रीयकरण के पूर्व यह प्रतिबध था कि बैक के अश भारतीय लोगो, भारत मे निवास करने वाले अग्रेजो एव भारतीय प्रमण्डल-विधान द्वारा पन्जीकृत प्रमण्डलो द्वारा ही खरीदे जा सकते है। अशधारियो को

वितरित किये जाने वाले अशो की सख्या पर भी प्रतिबध था। किन्तु ध्यान रहे कि अब रिजर्व बैंक की सारी पूँजी सरकार की है, क्योकि इसका राष्ट्रीयकरण हो गया है।

रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बोर्ड मे निम्न व्यक्ति होते है—

१ गवर्नर—रिजर्व बैंक मे एक गवर्नर होता है जिसको केन्द्रीय सरकार ५ वर्ष के लिए नियुक्त करती है। पर ५ वर्ष के पश्चात् उसको दुबारा नियुक्त किया जा सकता है। बैंक का केन्द्रीय बोड ही सरकार की सलाह से इसका वेतन निश्चित करता है।

२ दो डिप्टी गवर्नर—इनको भी केन्द्रीय सरकार ही मनोनीत करती है। ये केन्द्रीय बोर्ड की बैठक मे भाग ले सकते है किन्तु मतदान का अधिकार इन्हे नही प्राप्त है। हा, गवर्नर की अनुपस्थिति मे डिप्टी गवर्नर को मतदान अधिकार प्राप्त हो सकता है। किन्तु इसके लिए गवर्नर एक लिखित प्रमाणपत्र डिप्टी गवर्नर को देता है।

३ चार सचालक—केन्द्रीय बोर्ड के लिए चारो स्थानीय बोर्डो मे चार सचालक नियुक्त किये जाते है जिन्हे केन्द्रीय सरकार चुनती है।

४ छ सचालक और होते है जिनका चुनाव केन्द्रीय सरकार करती है। इनमे से प्रत्येक दो बारी बारी से—एक, दो, तीन वर्ष बाद अलग होते जाते है।

५ केन्द्रीय बोर्ड की देखरेख के लिए सरकार द्वारा नियुक्त एक सरकारी अधिकारी होता है, जो सरकार की आज्ञानुसार कितने ही समय तक कार्य कर सकता है। इसे भी मतदान का अधिकार प्राप्ति नही है।

इस प्रकार कुल १४ व्यक्ति केन्द्रीय बोर्ड मे होते है। सरकार द्वारा नियुक्त सचालक अवधि समाप्त होने पर फिर से चुन लिये जा सकते है। बैंक के प्रबन्ध की सुविधा के लिए चार स्थानीय बोर्ड भी कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास मे है। सीमा की दृष्टि से पूरे देश को चार क्षेत्रो मे बाट दिया गया है जो उत्तर क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र, पूर्वी क्षेत्र तथा पश्चिमी क्षेत्र है। इनका वर्णन रिजर्व बैंक विधान के प्रथम परिशिष्ट मे किया गया है। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड मे ६५ सदस्य होते है जिन्हे सरकार

चुनता है। ये सदस्य अपने मे से एक सभापति चुन लेते है। वैसे तो सदस्यो का कार्यकाल ४ वर्ष है किन्तु वे फिर नियुक्त किये जा सकते है।

इन सदस्यो की योग्यताएँ निम्न प्रकार से प्रतिबन्धित हैं।

(क) किसी बैंक का कर्मचारी अथवा सचालक इस बोर्ड का सदस्य नही हो सकता।

(ख) केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधानसभा का सदस्य बोर्ड का सदस्य नही हो सकता।

(ग) कोई सरकारी अधिकारी बोर्ड का सदस्य नही हो सकता।

(घ) ऐसी फर्म का साझीदार, जो फर्म दिवालिया घोषित कर दी गयी हो, बोर्ड का सदस्य नही हो सकता।

स्थानीय बोर्ड आवश्यकता पडने पर केन्द्रीय बोर्ड को सलाह देते है तथा केन्द्रीय बोड के आदेशो का पालन करते है। यो तो गवर्नर ही आवश्यकतानुसार केन्द्रीय बोर्ड की बैठक बुलाता है, परतु कोई तीन सचालक मिलकर बैठक बुलाने के लिए गवर्नर से प्रार्थना कर सकते है। प्रति वर्ष कम से कम छ बैठक बुलाना अनिवार्य हे, किन्तु तीन महीने मे एक बैठक अवश्य होनी चाहिए।

रिजर्व बैंक की पूँजी ५ करोड रु० है। इसके कर्यालय बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर मे है। इसकी एक शाखा लदन मे है जो अप्रैल सन् १९४६ मे खोली गयी थी। केन्द्रीय सरकार की आज्ञा प्राप्त करके रिजर्व बैंक अन्य स्थान पर भी अपनी शाखाएँ खोल सकता है।

रिजर्व बैंक के प्रमुख विभाग निम्न प्रकार है।

१. अधिकोषण विभाग—इस विभाग का सीधा सम्बन्ध सदस्य बैंको के अधिकोषण सम्बन्धी कार्यों से होता है। बैको का निरीक्षण एव उनकी साख की सीमा आदि निर्धारित करना इसी विभाग के अधीन है। बैको की माग-देनदारी की ५ प्रतिशत एव काल-देनदारी की २ प्रतिशत राशि इसी विभाग मे जमा रहती है। यह विभाग सरकार के कार्यों मे भी सहायता पहुचाता है।

२ नोट-निर्गमन-विभाग—यह विभाग नोटो के निर्गमन एवं नोटो के बदले सिक्के प्रदान करने का कार्य करता है ।

३ कृषि-साख-विभाग—यह विभाग कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओ के अनुभवी विशेषज्ञो की नियुक्ति करता है, जिससे आवश्यकता पडने पर केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारो और प्रान्तीय सहकारी सस्थाओ तथा अन्य अधिकोषण सस्थाओ को कृषि-साख की सुविधाएँ प्रदान की जा सके ।

४ शोध एव अक-विभाग—यह विभाग मुद्रा शोध का कार्य करता है । इस विभाग का मुख्य कार्य मुद्रा-मण्डी, बैंकिग तथा उ पादन एवं लाभाश सम्बन्धी आकडे प्रकाशित करता है । इस विभाग के तीन उप-विभाग इस प्रकार है—

(क) आर्थिक शोध विभाग—जो बैंक की सम्पत्ति एव दायित्वो, स्कध-विनिमय के कार्यो तथा रोजगार की नीति पर विचार करता है ।

(ख) अक विभाग—जो बैंक के मौलिक आकडे तैयार करता है व औद्योगिक उत्पत्ति मूल्यो एव सयुक्त प्रमण्डलो के मूल्यो का निर्देशाक बनाता है ।

(ग) आर्थिक अर्थशास्त्र विभाग—जो कृषि मूल्यो की स्थिरता, ग्रामीण बीमा-आय, पक्ष एव केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार की समस्याओ पर विचार करता है ।

५ विदेशी विनिमय विभाग—यह विभाग विनिमय दर (Exchange-rate) को स्थायी रखने तथा विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का काय करता है ।

रिजर्व बैंक के कार्य

रिजर्व बैंक के कार्यों को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है, जो निम्नलिखित है ।

(अ) केन्द्रीय अधिकोषण के कार्य—देश का केन्द्रीय बैंक होने के कारण रिजर्व बैंक को केन्द्रीय अधिकोषण के सारे कार्य सम्पादित करने पडते है, जो निम्न प्रकार है ।

१ सरकारी बैंकिग का कार्य—रिजर्व बैंक सरकार का राजकोषोय प्रतिनिधि है। इसलिए केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकार की राशि को यह अपने पास जमा रखता है तथा उनके द्वारा स्वीकृत दूसरी सरकारो की राशि भी जमा रखता है। यही नही, सरकार की आज्ञानुसार इस राशि को एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानातरित करता है और उनके लेखे पर भुगतान का कार्य तथा विदेशी विनिमय का कार्य करता है। सरकारी राशि की जमा पर बैंक को ब्याज नही देना पडता है। आवश्यकता के समय सरकार के ट्रेजरी बिलो का विक्रय करके सरकार के लिए ऋण का प्रबध भी यही बैंक करता है। जब सरकार को अल्पकालीन ऋण (केवल ३ मास तक के लिए) की आवश्यकता होती है तब वह रिजर्व बैंक से ऋण ले लेती है।

समय समय पर रिजर्व बैंक सरकार को मुद्रा-नीति, बैंकिग नीति तथा बिनियोग नीति से सम्बन्धित सलाह भी देता है।

२ बैंको का बैंक—देश के सभी बैंको का बैंक होने के कारण रिजर्व बैंक सभी बैंको की कुछ निश्चित राशि अपने पास रखता है और आवश्यकता के समय उसी से उनकी सहायता करता है। देश की अधिकोषण एव साख प्रणाली के विकास एव सगठन का पूर्ण अधिकार इसे प्राप्त है।

रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध रखने वाले सभी बैंको को इसकी सदस्यता स्वीकार करनी पडती है और उनके नाम विधान के दूसरे परिशिष्ट मे लिख लिये जाते है। ऐसे बैंको को अनुसूचित बैंक कहते है। इन अनुसूचित बैंको को अपनी माग-देनदारी का ५ प्रतिशत से २० प्रतिशत तक और काल-देनदारी का २ प्रतिशत से ८ प्रतिशत तक रिजर्व बैंक के पास जमा करना पडता है। किसी भी सकट के समय इसी जमा की राशि से इन बैंको को सहायता दी जाती है। चारो तरफ से निराश अनुसूचित बैंको को रिजव बैंक ऋण भी प्रदान करता है। प्रत्येक बैंक को अपनी मासिक या साप्ताहिक रिपोर्ट रिजर्व बैंक को देनी पडती है।

रिजर्व बैंक अपने अनुसूचित बैंको की प्रतिभूतियो एव विपत्रो के

क्रय-विक्रय का कार्य भी करता है। इसके अतिरिक्त साख-सुविधाओ के दुरुपयोग पर कोई भी आवश्यक प्रतिबध लगाने का अधिकार इसको प्राप्त है।

३ नोट-निर्गमन का कार्य—देश की मुद्रा एव साख-नीति पर नियत्रण रखने के लिए रिजर्व बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार दे दिया गया है। नोट निर्गमन के लिए एक नोट निर्गमन विभाग होता है जिसका अस्तित्व अन्य विभागो से पूर्णतया भिन्न रहता है। रिजव बैंक विधान की धारा २४ के अनुसार यह २, ५, १० और १०० रु० के नोट प्रकाशित करता है। सभी नोट विधि-ग्राह्य होते है और इन पर गवर्नर जनरल की मान्यता प्राप्त होती है।

विधान की धारा ३३ के अन्तर्गत नोट छापने के लिए सुरक्षित कोष रखना आवश्यक है। यह कोष स्वर्ण-मुद्रा, स्वर्ण-धातु, विदेशी प्रतिभूतियो, रुपये तथा रुपये की प्रतिभूतियो के रूप मे रखा जा सकता है। किन्तु ध्यान रहे कि कम से कम २०० करोड रुपयो के मूल्य के सोने तथा विदेशी प्रतिभूतियो का होना आवश्यक है। इसमे ११५ करोड रुपये के मूल्य का तो सोना होना ही चाहिए। नोट-निर्गमन विभाग की विदेशी प्रतिभूतिया वे है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के सदस्य देशो मे भुगतान की जा सके। इनकी व्याख्या विधान ने इस प्रकार की है—

(क) वे प्रतिभूतियाँ जो किसी उक्त सदस्य देश के केन्द्रीय बैंक के नोट-निर्गमन विभाग की जमा राशि की साख पर हो या उस देश के किसी अन्य बैंक की प्रतिभूतिया हो।

(ख) ९० दिनो तक की अवधि वाले बिल जो उक्त किसी भी देश मे भुक्त हो तथा जिन पर दो विश्वसनीय हस्ताक्षर हो।

(ग) ५ वर्ष की अवधि वाली उक्त किसी भी देश की सरकारी प्रतिभूतियाँ।

४ विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय—रिजर्व बैंक विधान की धारा ४० के अन्तर्गत विदेशी विनिमय मे मुद्रा-मूल्य को स्थिर रखने के लिए विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय कर सकता है। किन्तु यह क्रय-

विक्रय केवल अधिकृत व्यक्तियो के साथ ही हो सकता है तथा केवल कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और दिल्ली कार्यालयो द्वारा ही हो सकता है। क्रय-विक्रय की दर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की शर्तों पर विचार करते हुए केन्द्रीय सरकार निर्धारित करती है।

अधिकृत व्यक्ति केवल वे है जिनको विदेशी विनिमय नियत्रण कानून, १९४७ के अनुसार विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का अधिकार प्राप्त है।

५ अन्य केन्द्रीय बैंकिग के कार्य—देश का शीषस्थ होने के कारण रिजर्व बैंक को उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त बहुत से और कार्य भी करने पडते है, उदाहरणार्थ, राशि का स्थानान्तरण, समाशोधन गृह का कार्य, आर्थिक एव मौद्रिक विषयो पर सरकार, अधिकोषो या अन्य सस्थाओ को आवश्यकता पडने पर सलाह देना और सामान्य सूचना के लिए आर्थिक विषयो पर शोधपूर्ण आकडे प्रकाशित करने का कार्य आदि करना।

सामान्य अधिकोषण के कार्य—रिजर्व बैंक विधान की धारा १७ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को सामान्य बैंक के रूप मे निम्न काय भी करने पडते है—

१ केन्द्रीय, प्रान्तीय एव स्थानीय सरकारो, अधिकोषो तथा अनेक सस्थाओ के लेखे पर बिना ब्याज के राशि जमा करना तथा उनकी आज्ञा पर राशि सग्रह करना या वसूलना।

२ अनुसूचित बैंको के साथ विदेशी बिनिमय का क्रय-विक्रय। यह क्रय-विक्रय एक लाख रुपये से कम मूल्य का नही हो सकता है।

३ भारत मे भुक्त व्यापारिक विपत्रो एव प्रतिज्ञा-पत्रो (प्रामेसरी-नोटो) का क्रय-विक्रय। ऐसे विपत्रो एव प्रतिज्ञा-पत्रो पर दो अच्छे हस्ताक्षरो का होना आवश्यक है जिनमे से एक अनुसूचित अधिकोष के प्रतिनिधि का होता है। इन विपत्रो एव प्रतिज्ञा-पत्रो की अवधि ९० दिनो से अधिक न होनी चाहिए।

४ भारत मे भुक्त कृषि सम्बन्धी विपत्रो एव प्रतिज्ञा-पत्रो का क्रय-

विक्रय तथा कटौती करना। ऐसे विपत्र एव प्रतिज्ञा-पत्रो पर दो अच्छे हस्ताक्षरो का होना आवश्यक है जिन मे से एक तो किसी तालिकाबद्ध अधिकोष या प्रान्तीय सहकारी अधिकोष के प्रतिनिधि का होता है। इन विपत्रो एव प्रतिज्ञा-पत्रो की अवधि ९ मास से अधिक न होनी चाहिए।

५ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो को ९० दिन की अवधि का ऋण देना।

६ स्थानीय सरकारो, तालिकाबद्ध अधिकोषो, प्रान्तीय सहकारी अधिकोषो तथा लका-सरकार की प्रमुख मुद्रा-सस्थाओ को ९० दिन की अवधि का ऋण तथा पेशगी मे राशि देना।

७ विदेशो मे, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य हो उनके भुक्त विपत्रो का क्रय-विक्रय एव कटौती करना। ये विपत्र ९० दिन की अवधि के हो सकते हे और इनका क्रय-विक्रय तथा कटौती अनुसूचित अधिकोषो के ही साथ हो सकती है।

८ अपन कार्यालयो तथा अपनी एजेन्सियो पर भुगतान होने वाले माग-पत्र चालू करना।

९ केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकार की प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय करना।

१०—स्वर्ण-सिक्को, स्वर्ण एव विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना।

११ रुपये, प्रतिभूतियो, आभूषण तथा बहुमूल्य वस्तुओ को सुरक्षित रखना। ऋण-पत्रो के भुगतान लेन। और लाभाश वगैरह संगृहीत करना।

१२ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य देशो के केन्द्रीय बैंक मे लेखा खोलना तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के साथ लेन-देन करना।

१३ विदेशी सरकारो की प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय करना। १० वर्ष से अधिक अवधि वाली प्रतिभूतियो का क्रय नही हो सकता।

१४ किसी भी तालिकाबद्ध अधिकोष एव किसी भी देश की प्रमुख मुद्रा-सस्था से, जो विधान से मान्यताप्राप्त हो, अधिकोषण कार्य के लिए एक मास की अवधि तक जमनत पर रुपया उधार लेना। तालिका-

बद्ध अधिकोष से लिया जाने वाला उधार अधिकोष की पूँजी से अधिक नही हो सकता।

१५ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, अधिकोष अध्यादेश विधान १९४५ तथा भारतीय अधिकोषण प्रमण्डल विधान १९४७ के अनुसार कार्य करना। रिजर्व बैंक समय समय पर आवश्यक आर्थिक एव मौद्रिक आकडो का सग्रह तथा सकलन भी करता रहता है।

बहुत से ऐसे कार्य है जो रिजर्व बैंक के लिए निषिद्ध है, अर्थात् जिन्हें वह नही कर सकता। ऐसे कार्य निम्नलिखित है।

१ न तो कोई निजी उद्योग और व्यापार कर सकता है और न किसी उद्योग एव व्यापार मे भाग ले सकता है।

२ किसी भी प्रमण्डल अथवा अधिकोष के अश न तो खरीद सकता है और न उनके अश की जमानत पर उन्हे उधार दे सकता है।

३ अचल सम्पत्ति की जमानत पर उधार नही दे सकता। अपने कार्यालयो की सम्पत्ति को छोडकर कोई भी अचल सम्पत्ति नही खरीद सकता।

४ ऊपर बतायी गयी परिस्थितियो के अतिरिक्त किसी भी अन्य अवस्था मे ऋण अथवा अग्रिम नही दे सकता। इतना ही नही, रिजर्व बैंक चालू खातो पर ब्याज नही देता।

तालिकाबद्ध अधिकोष और रिजर्व बैंक

देश के सारे अधिकोष रिजर्व बैंक के साथ स्थापित होने वाले सम्बन्ध के विचार से दो भागो मे विभाजित किये जा सकते है—

(१) तालिकाबद्ध अधिकोष और (२) अतालिका बद्ध अधिकोष। रिजर्व बैंक-विधान की दूसरी तालिका मे लिखे गये नाम वाले अधिकोषो को तालिकाबद्ध या अनुसूचित अधिकोष कहते है। इस तालिका मे केवल उन्ही अधिकोषो के नाम लिखे जाते है जो भारत मे ही व्यवसाय करते हैं तथा जिनकी कुल पूजी ५ लाख से कम नही है और जिनके ऊपर रिजर्व बैंक को यह विश्वास हो कि वे जमा रखने वालो के ही हित मे व्यवसाय करते हैं। तालिकाबद्ध अधिकोषो को अपनी माग-देनदारी का ५ प्रतिशत

से २० प्रतिशत तथा काल-देनदारी का २ प्रतिशत से ८ प्रतिशत तक रिजर्व बैंक के पास जमा करना पडता है। इसके अतिरिक्त ऐसे अधिकोषो को प्रति सप्ताह एक विवरण-पत्रिका आवश्यक रूप से रिजर्व बैंक के पास भेजनी पडती है जिस पर दो सचालको–प्रबन्धक अथवा अन्य उत्तरदायी कर्मचारियो के हस्ताक्षर होते है। इस पत्रिका मे निम्नलिखित सूचनाएं रहती है—

१ माग-देनदारी तथा काल-देनदारी की राशि।

२ बैंक नोट तथा सरकारी नोटो की भारत मे होने वाली राशि।

३ रुपयो तथा अन्य सिक्को की भारत मे होने वाली राशि।

४ उधार दी हुई अग्रिम राशि, ऋण राशि तथा भुनाये हुए विपत्रो (बिलो) की राशि।

५ बैंक की रोकड बाकी।

इस विवरण के न भेजने पर १०० रु० प्रतिदिन की दर से जुर्माना देना पडता है। रिजर्व बैंक अपने अनुसूचित अधिकोषो को समय समय पर ऋण देता है। उनकी राशि का स्थानान्तरण करता है और उनके विपत्रो एव प्रतिज्ञा-पत्रो का क्रय-विक्रय भी करता है। हा, इतना अवश्य है कि रिजर्व बैंक ऋण देते समय प्रतिभूतियो की जमानत भी रख सकता है। ये प्रतिभूतियाँ निम्न प्रकार की हो सकती है—

(अ) वे प्रतिभूतिया जिनमे एक प्रन्यासी (Trustee) को प्रन्यास-विधान द्वारा प्रन्यास का रुपया खर्च करने का अधिकार प्राप्त हो।

(आ) सोने, चादी अथवा उसके मूल्य की प्रतिभूतियाँ।

(इ) ऐसे विनिमय विपत्र अथवा प्रतिज्ञा-पत्र जिनके पुन भुगतान का अधिकार रिजर्व बैंक ने दे दिया हो।

(ई) किसी भी सदस्य बैंक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक के प्रतिज्ञा-पत्र जिनकी रकम का सोना-चादी बैंक मे जमा हो तथा जो कृषको की सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखे गये हो।

रिजर्व बैंक तालिकाबद्ध अधिकोषो की राशि स्थानान्तरण के लिए निम्न सुविधाएं प्रदान करता है—

१ रिजर्व बैक के कार्यालयो एव शाखाओ द्वारा तालिकाबद्ध अधिकोष की १०,००० रु० तक की राशि का नि शुल्क स्थानान्तरण।

२ किसी स्थान से जहाँ रिजर्व बैक की एजेन्सी है तथा तालिकाबद्ध अधिकोष का कार्यालिय, उपकार्यालिय, शाखा या शोध्य कार्यालय है, उस अधिकोष के रिजर्व बैक स्थित प्रधान लेखे मे ५००० रु० तक की राशि का प्रति सप्ताह एक बार नि शुल्क स्थानान्तरण।

३ तालिकाबद्ध अधिकोष के रिजर्व बैक स्थित प्रधान लेखे मे राशि स्थानान्तरण की अन्य सुविधा १/६४ प्रतिशत की दर पर दी जाती है। परन्तु इसकी न्यूनतम सीमा एक रुपया है।

४ रिजर्व बैक अथवा इसके प्रतिनिधि के कार्यालयो के खाते मे ५००० रु० तक की राशि का स्थानान्तरण १/१६ प्रतिशत की दर पर होता है किन्तु शुल्क की न्यूनतम सीमा एक रुपया है। ५००० रु० से अधिक राशि का स्थानान्तरण १/३२ प्रतिशत की दर पर होता है किन्तु शुल्क की न्यूनतम राशि तीन रुपया दो आना है।

कुल पूँजी ५ लाख से घटने पर अथवा अधिकोषण कार्य बद कर देने पर अथवा सुचारु रूप से कार्य न कर सकने पर तालिकाबद्ध अधिकोषो का नाम तालिका से निकाला जा सकता है। भारतीय अधिकोषण प्रमण्डल विधान १९४९ की धारा ३५ के अन्तर्गत निरीक्षण करने पर यदि रिजर्व बैक किसी तालिकाबद्ध अधिकोष के कार्यो से असन्तुष्ट हो जाय तो भी उसका नाम तालिका से निकाल सकता है।

अतालिकाबद्ध अधिकोष और रिजर्व बैक—जिनके नाम रिजर्व बैक की तालिका मे नही होते है वे अतालिकाबद्ध अधिकोष कहलाते है। इन अधिकोषो से भी रिजर्व बैक अपना सम्बन्ध रखता है और समय समय पर उनकी स्थिति की जाच-पडताल करके उचित सलाह देता है। ऐसे अतालिकाबद्ध अधिकोषो को, जो भारतीय प्रमण्डल विधान १९१३ के अन्तगत पजीकृत हो और जिनकी कुल पूँजी ५०,००० रु० या इससे अधिक हो तथा वे भारत मे अधिकोषण का कार्य करते हो, राशिस्थानान्तरण के व्यय मे रिजर्व बैक कुछ सुविधाएँ देता है। ऐसे

अधिकोषो की सख्या जून सन् १९४६ मे ८२ थी। सन् १९४५ से अतालिकाबद्ध अधिकोषो को निम्न शर्तों पर रिजर्व बैंक मे खाते खोलने का अधिकार प्राप्त हो गया है ।

१ रिजर्व बैंक मे जमा की जाने वाली न्यूनतम राशि १०,००० रुपये से कम न होगी ।

२. इनके खाते चालू खाते नही हो सकते हे, किन्तु पारस्परिक समाशोधन के कार्य मे प्रयुक्त किये जा सकते है ।

रिजर्व बैंक की कृषि-साख व्यवस्था

रिजर्व बैंक की स्थापना के समय ही कृषि-साख की व्यवस्था का लक्ष्य रखा गया था । अतएव इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक मे एक कृषि साख विभाग का निर्माण किया गया। इस विभाग के निम्नलिखित उद्देश्य थे ।

१ कृषि-साख व्यवस्था के लिए विशेषज्ञ की नियुक्ति तथा साख-समस्याओ का अध्ययन एव हल निकालना तथा समय समय पर केन्द्रीय, प्रान्तीय एव स्थानीय सरकारो, प्रातीय सहकारी अधिकोषो एव अन्य कृषि सस्थाओ को आवश्यक सलाह देना और उनका पथ-प्रदर्शन करना ।

२ अपने काय-कलापो द्वारा प्रान्तीय सहकारी अधिकोषो एव अन्य ऐसी ही सस्थाओ के काय को सगठित करना ।

रिजर्व बैंक ने सन् १९५१ मे कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओ पर विचार करने के लिए विशेषज्ञो का एक सम्मेलन आयोजित किया था। इस सम्मेलन की सिफारिशो के अनुसार कृषि-साख विभाग मे कृषि-साख के विशेषज्ञो की एक समिति बनायी गयी। यह समिति स्वय तो ऋण देती नही किंतु साख-विभाग को कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओ पर सुझाव देती है।

कृषि-साख विभाग ने अनेको बार साहूकारो तथा स्वदेशी बैंकरो को नियमबद्ध एव नियत्रित रखने के लिए सरकार को सुझाव दिये तथा सहकारी आन्दोलनो के पुनर्निर्माण की माग की। परिणामस्वरूप रिजर्व बैंक ने देशी महाजनो के द्वारा कृषको को आर्थिक सुविधाएँ

पहुँचाने का प्रयास किया। रिजर्व बैंक ने सन् १९३८ मे स्वीकृत महाजनों द्वारा कृषकों को उनके कृषि-उत्पादन की साख पर पेशगी के रूप मे उधार देने के लिए लिखे गये कृषि-विपत्रो को तालिकाबद्ध अधिकोषों द्वारा कम दर पर भुनाना स्वीकार किया, ताकि कृषको को कटौती की बचत का लाभ हो तथा वे कृषि मे उत्पादित वस्तुओं के विक्रय तक आवश्यक ऋण भी प्राप्त कर सके। रिजर्व बैंक ने यह योजना बनायी कि तालिकाबद्ध अधिकोष अपनी कटौती-दर सामान्य अधिकोषो की दर से दो प्रतिशत अधिक रखेगे और महाजन दो प्रतिशत अधिक मिलाकर कृषको को उधार देगे। परन्तु तालिकाबद्ध अधिकोषो ने इसका विरोध किया। इस योजना से तालिकाबद्ध अधिकोषो के बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का भी भय था, इसलिए इस योजना को स्थगित कर देना पडा। रिजर्व बैंक ने दूसरी योजना यह बनायी कि सभी साहूकारी अधिकोष उससे धन प्राप्त करके कृपको को ऋण प्रदान करे। किन्तु सहकारी अविकाषो ने इस योजना से लाभ न उठाया। सन् १९४२ मे रिजर्व बैंक ने कृषि-साख व्यवस्था की योजना बनायी और कृषि-उत्पादन के विक्रय के निमित्त अपनी कटौती दर से एक प्रतिशत कम पर ही सहकारी अधिकोष को धन देने का निश्चय किया। फिर भी सहकारी अधिकोषो ने इस योजना से पूरा लाभ न उठाया। इसी तरह रिजर्व बैंक विधान की धारा १७।४ (द) कृषि-साख के विकास के लिए अभी तक कार्यान्वित नही की जा सकी है, क्योंकि इसका उपयोग तभी हो सकता है जब कि देश मे अनुज्ञाधारी भण्डारगृह हो। अनुज्ञाधारी भण्डारगृहो की स्थापना के लिए रिजर्व बैंक ने एक आदेश भी जारी किया किन्तु अभी तक इनकी स्थापना नही हो पायी है।

सन् १९४९-५० मे सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रो मे भी अधिकोषो की स्थापना करने के सम्बन्ध मे जाच-पडताल करने के निमित्त एक समिति बनायी जिसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है। सन् १९५१ मे रिजर्व बैंक ने कृषि-साख के साधनो एव इससे प्राप्त होने वाली सुविधाओ को बढाने के लिए एक सम्मेलन आयोजित किया, जिसमे इस सम्बन्ध मे

अनेक सुझाव दिये गये । ग्रामीण अधिकोषण जाच समिति तथा इस सम्मेलन द्वारा की गयी सिफारिशो के अनुसार रिजव बैंक ने पहली सितम्बर सन् १९५१ से व्यापारिक अधिकोषो, सहकारी अधिकोषो एव स्वदेशी बैंको द्वारा रिजर्व बैंक अथवा इम्पीरियल बैंक के एक कार्यालय से दूसरे कार्यालय को स्थानान्तरित की जाने वाली राशि पर लगने वाले कमीशन की दर को कम कर दिया, और अब ५००० रुपयो के स्थानान्तरण पर कमीशन की दर १/३२ प्रतिशत तथा इससे अधिक रुपयो के स्थानान्तरण पर १/६४ प्रतिशत कर दी गयी । इतना ही नही, रिजव बैंक को कृषि-साख सम्बन्धी अधिक सुविधाएँ प्रदान कर सकने मे समर्थ बनाने के लिए नवम्बर सन् १९५१ मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया विधान मे आवश्यक सशोधन भी किया गया। कुछ और सशोधन करके सहकारी अधिकोषो को व्यापारिक अधिकोषो की भाति ही विपत्रो, आहरण, क्रय-विक्रय एव कटौती करने का अधिकार दिया गया । एक दूसरे सशोधन के अन्तर्गत सहकारी अधिकोषो द्वारा कृषि कार्यों के लिए दिये जाने वाले ऋणो की अवधि ९ महीने से बढाकर १५ महीने कर दो गयी है।

प्राचीन काल से ही भारतीय अधिकोषण प्रणाली के लिए भारतीय कृषि को उचित सहायता देना एक प्रधान समस्या बनी रही है । कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए रिजर्व बैंक ने कृषि-साख के क्षेत्र मे सहकारी बैंको को अनेक सुविधाए दी है । परन्तु सबसे प्रमुख सुविधा तो सहकारी अधिकोषो को ऋण प्रदान करना है, जिसके लिए ९० दिन वाली निम्न-लिखित प्रतिभूतियाँ जमानत के रूप मे रिजर्व बैंक स्वीकार करता है।

(१) सरकारी प्रतिभूतियाँ ।

(२) भूमि-बधक अधिकोषो द्वारा मान्य ऋण-पत्र ।

(३) कृषि के लिए लिखे गये प्रतिज्ञा-पत्र जिनका बेचान किसी प्रान्तीय सहकारी अधिकोष ने किया हो ।

(४) प्रान्तीय सहकारी अधिकोषो के प्रतिज्ञा-पत्र जिनको किसी गोदाम वाली सस्था ने सुरक्षित कर दिया हो ।

(५) ऐसा एक वैधानिक पत्र, जिसे केन्द्रीय सहकारी अधिकोष ने प्रमाणित किया हो तथा वह कृषि-कार्य के लिए लिखा गया हो ।

यदि प्रान्तीय सहकारी अधिकोष प्राप्त छूट की रकम केन्द्रीय अधिकोष के सहारे किसानो को देने के लिए उद्यत हो तो उसे प्रतिज्ञा-पत्र के पुनर्भुगतान मे रिजर्व बैंक एक प्रतिशत की छूट देने को तैयार रहता है ।

चूँकि इसे लम्बी अवधि के ऋण देने का अधिकार नही प्राप्त है इसलिए यह ९० दिनो के लिए भूमि बधक अधिकोषो को भी ऋण दे सकता है । इसके अतिरिक्त भूमि बधक अधिकोषो के सरकार द्वारा सुरक्षित ऋण-पत्रो का क्रय करके भी रिजर्व बैंक उन्हे सहायता पहुचाता है ।

अगस्त सन् १९५१ मे रिजर्व बैंक आफ इन्डिया ने ग्राम्य-साख सुविधाओ के बृहत् प्रसार के निमित्त आवश्यक सुझाव देने के लिए एक ग्राम्य साख-समिति नियुक्ति की । इस समिति ने सन् १९५४ के अन्त तक अपने सुझाव दिये । इन सुझावो से प्रभावित होकर भारत सरकार ने निम्नलिखित प्रयास किया ।

१ सरकार ने भारत के राज्य अधिकोष—स्टेट बैंक आफ इण्डिया को स्थापना की घोषणा की । स्टेट बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट पास किया गया और पहली जुलाई सन् १९५५ से इस अधिकोष ने अपना कार्य भी प्रारम्भ कर दिया ।

२ समिति ने सहकारिता का देश भर मे प्रसार करने की सिफारिश की थी । इसलिए अप्रैल सन् १९५५ मे सभी राज्यो के सहकारिता-मन्त्रियो का एक सम्मेलन आयोजित करके यह निर्णय किया गया कि वे सभी राज्य-सरकारो, भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक आफ इण्डिया से सहयोग लेकर सहकारी विपणियो, सहकारी गोदामो एव सहकारी साख के सम्बन्ध मे एक योजना बनाये और उसे द्वितीय पचवर्षीय योजना के समय प्रमुख रूप से लागू करें । तत्पश्चात् राज्य सरकारो ने ऐसा ही किया ।

३ समिति ने सुझाव दिया कि सभी राज्य-सरकारो का कार्य सहकारी साख-सस्थाओ के साथ एक वित्तीय साझीदार के रूप मे होना

चाहिए। रिजर्व बैंक के पास एक विशिष्ट कोष होना चाहिए ताकि वह आवश्यकता पडने पर राज्य-सरकारो को दीर्घकालीन ऋण प्रदान कर सके। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक एक और कोष रखे ताकि वह सहकारी साख के लिए दिये जाने वाले अल्पकालीन ऋणो को मध्यकालीन ऋणो मे परिवर्तित कर सके। बैंक ने ऐसे दोनो कोषो का निर्माण कर दिया है।

४ समिति ने भारत सरकार को राष्ट्रीय सहकारी विकास कोष (नेशनल कोआपरेटिव डेवलपमेन्ट फन्ड) और राष्ट्रीय सग्रह विकाष कोष (नेशनल वेर हाउजिग डेवलपमेन्ट फन्ड) स्थापित करके उन्हे प्रस्तावित राष्ट्रीय सहकारी विकास एव सग्रह बोर्ड के अधीन कर देने तथा इन कोषो के द्वारा कृषि-जन्य वस्तुओ के सग्रह एव विपणन की व्यवस्था करने का सुझाव दिया। इसलिए सरकार ने कृषि-उत्पत्ति विकास एव सग्रह नियम बिल १९५५ तैयार किया जो इस समय कार्यान्वित हो चुका है।

५ इस समिति ने सहकारिता से सम्बन्धित अधिकारियो की उचित शिक्षा की व्यवस्था करने का भी सुझाव दिया। पूना, मद्रास एव पूसा मे तो इस प्रकार की शिक्षण-सस्थाएँ भी थी। इस समय कुल मिलाकर ३१ छोटी शिक्षण-सस्थाएँ विभिन्न राज्यो मे स्थापित की जा चुकी है। इन सब सस्थाओ का प्रबन्ध केन्द्रीय सहकारी प्रशिक्षण समिति करती है।

६. सरकार ने ग्रामीण-साख-सस्थाओ द्वारा किये गये कार्यों को सगठित करने का भी प्रयास किया है। इसी उद्देश्य से अक्तूबर सन् १९५५ मे एक समिति बनायी गयी है जिसके कार्य है—(१) गाँवो के विकास के साधन उपलब्ध कराना तथा अपव्यय रोकना, (२) ग्रामीण साख सम्बन्धी सूचनाओ का आदान-प्रदान करना, (३) कृषि-जन्य वस्तुओ का सग्रह एव विपणन करने वाली सस्थाओ के कार्य का सगठन करना, (४) सहकारिता तथा राष्ट्रीय विस्तार योजना और सामुदायिक विकास योजनाओ मे पारस्परिक समन्वय स्थापित करना। इस समिति मे केन्द्रीय कृषि एव खाद्य मत्रालय के दो प्रतिनिधि तथा वित्त मन्त्रालय, उत्पादन

मन्त्रालय, सामुदायिक विकासयोजना प्रबध, आयोजना आयोग और रिजर्व बैंक के एक-एक प्रतिनिधि है और सरकार का सहकारी सलाहकार सदस्य मत्री है।

रिजर्व बैंक के पास कोई ऐसा विशिष्ट कोष नही था जिससे वह सहकारी समितियो एव कृषि-वित्त-सस्थाओ को सहायतार्थ ऋण दे सके, किन्तु यह भी कमी अभी हाल मे पूरी कर दी गयी है।

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया विधान मे कुछ और भी सशोधन करके निम्न दो नये कोष स्थापित किये गये है—

(अ) राष्ट्रीय कृषि-साख दीर्घकालीन कोष,

(ब) राष्ट्रीय कृषि-साख स्थायित्व कोष ।

राष्ट्रीय कृषि-साख दीर्घकालीन कोष

इस कोष ने ३० जून सन् १९५६ से कार्य प्रारम्भ कर दिया है। इसकी प्रारम्भिक पूजी १० करोड रुपया है किन्तु इसके कार्यारम्भ के समय से सन् १९६१ तक कम-से-कम ५ करोड रुपया प्रति वर्ष इसमे जमा होता रहेगा। आवश्यकता पडने पर और भी राशि इसमे मिलायी जा सकेगी। यह कोष निम्नलिखित कार्यो मे प्रयुक्त किया जायगा।

(क) राज्य सरकारो को ऋण तथा अग्रिम देने मे। ताकि वे प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से सहकारी साख समितियो को अशदान दे सके। इस ऋण की अधिकतम अवधि २० वर्ष हो सकती हे।

(ख) निर्धारित जमानत रखने और राज्य सरकार द्वारा ऋण की राशि तथा उसके ब्याज के भुगतान की गारन्टी लेने पर कृषि-कार्यों मे प्रयुक्त करने के लिए प्रान्तीय सहकारी अधिकोषो को ऋण तथा अग्रिम देने मे। यह ऋण १५ महीने से ५ वर्ष तक की अवधि का हो सकता है।

(ग) राज्य सरकार द्वारा ऋण की राशि तथा उसके ब्याज के भुगतान की गारन्टी लेने पर केन्द्रीय भूमि-बधक अधिकोष को ऋण तथा अग्रिम देने मे। इस ऋण की अधिकतम अवधि २० वर्ष हो सकती है।

(घ) राज्य सरकार द्वारा ऋणपत्र की राशि तथा उसके ब्याज

के भुगतान की गारन्टी लेने पर केन्द्रीय भूमि-बधक अधिकोष का ऋण-पत्र खरीदने मे।

सहकारी-साख समितियो को सहयोग दे सकने मे समर्थ बनाने के लिए मार्च सन् १९५७ तक ११ राज्यो को कुल मिलाकर २६८ २० लाख रुपया इस कोष से देना स्वीकृत किया गया।

राष्ट्रीय कृषि-साख स्थायित्व कोष

३० जून सन् १९५६ से १९६१ तक प्रति वर्ष इस कोष मे कम-से-कम एक करोड रुपया जमा होता रहा है। आवश्यकता समझने पर इसके पश्चात् भी इस कोष मे आवश्यक राशि जमा होती रहेगी। यह कोष प्रान्तीय सहकारी समितियो को १५ महीने से ५ वर्ष तक की अवधि वाले ऋण तथा अग्रिम देने के लिए बना है। ऋण देने के लिए निम्न दो शर्तें मान्य है—

(क) राज्य सरकार द्वारा ऋण की राशि एव उसके ब्याज के भुगतान की गारन्टी प्राप्त हो।

(ख) रिजर्व बैंक विधान की धारा १७।२ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को बेचे गये या पूर्व-प्राप्त कराये गये अपने विपत्रो के शोधन मे। जब ऋण लेने वाले प्रान्तीय सहकारी अधिकोष, किसी प्रकृति-प्रदत्त कारण से असमर्थ हो तब इस कोष की राशि को प्रयोग मे ला सकते है।

रिजर्व बैंक और विनिमय नियन्त्रण

द्वितीय महायुद्ध काल मे सरकार ने विदेशी विनिमय के नियत्रण का अधिकार पाते ही यह कार्य रिजर्व बैंक आफ इन्डिया को सौप दिया। रिजर्व बैंक ने इस कार्य के लिए एक विनिमय नियत्रण विभाग स्थापित किया। विनिमय के नियत्रण के लिए उसने कुछ नियम रखे थे जिनका उल्लघन कोई नही कर सकता था। सन् १९४७ तक तो यही स्थिति रही। उसी वर्ष सरकार ने विदेशी विनिमय नियत्रण विधान स्वीकृत किया ताकि विदेशी विनिमय मे सट्टेबाजी न हो सके।

अब विदेशी विनिमय का कार्य केवल विनिमय अधिकोष एव सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त कुछ आधिकारिक व्यक्ति कर सकते है। आधिकारिक

व्यक्तियो की नियुक्ति सरकार करती है तथा उन्हे इस कार्य के लिए अनुज्ञा-पत्र भी देती है। विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय सरकार की आयात एव निर्यात नीति मे निर्धारित कार्यो के लिए हो सकता है। आधिकारिक व्यक्तियो को समय-समय पर विदेशी विनिमय से होने वाले अपने आय-व्यय का लेखा रिजर्व बैंक के पास भेजना पडता है। रिजर्व बैंक को भी विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का अधिकार प्राप्त है।

निम्न कार्यों को छोडकर कोई भी विदेशी विनिमय से सम्बन्धित कार्य स्टर्लिग क्षेत्र के बाहर नही किया जा सकता—

(१) आयात का भुगतान।
(२) छोटे-छोटे व्यक्तिगत भुगतान।
(३) यात्रा-व्यय।
(४) अन्य व्यापारिक कार्य, जैसे किराया या लाभ देना।
(५) पूजी का भुगतान।

रिजर्व बैंक और स्वदेशी बैंकर

हमारे देश के मुद्रा-बाजार मे स्वदेशी बैंकरो को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसका कारण यह है कि कृषको एव छोटे उद्योगपतियो को उनकी आवश्यकता के समय सरलतापूर्वक एव बिना किसी विशेष पूछताछ के ही ये पूजी प्रदान करते है जिसे आधुनिक पद्धति वाले अधिकोष नही दे पाते है।

स्वदेशी बैंकरो का प्रमुख दोष यह है कि ये ब्याज की दर ऊँची रखते है। इनके लेन-देन की विधि एव ब्याज की दर पर नियत्रण रखने तथा इन्हे सगठित एव सचालित करने के लिए कोई विधान तो है नही। अत यह कार्य रिजर्व बैंक की स्थापना होते ही उसे सौपा गया। सर्वप्रथम सन् १९३७ मे एक योजना बनायी गयी और केन्द्रीय अधिकोषण जॉच समिति के प्रस्तावो के अनुसार यह सुझाव रखा गया कि अनुसूचित अधिकोषो की भाति ही स्वदेशी बैंकरो को विनिमय-पत्र की कटौती की सुविधा रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान की जानी चाहिए। परन्तु स्वदेशी बैंकरो को यह सुविधा पाने के लिए भारतीय प्रमण्डल विधान के अनुसार अपना कार्यक्षेत्र सीमित

रखना होगा। स्वदेशी बैंकरो की बढती हुई सख्या के कारण इनसे सीधा सबध स्थापित करने मे रिजर्व बैंक ने अपने को असमर्थ पाया और इस कार्य के लिए कुछ सदस्य अधिकोषो को मध्यस्थ बनाया। रिजर्व बैंक की इस व्यवस्था से स्वदेशी बैंकर सहमत न हुए। इसलिए उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करने की माँग रिजव बैंक से की गयी। परिणाम स्वरूप रिजर्व बैंक ने सीधा सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा अगस्त सन् १९३९ मे कर दी।

इसके अनुसार स्वदेशी बैंकरो को रिजर्व बैंक से पन्जीकृत होना आवश्यक था। निम्न शर्तों को पूरा करने पर किसी भी सदस्य अधिकोष मे खाता खोलने तथा तालिकाबद्ध अधिकोषो को प्राप्त होने वाली सभी सुविधाएँ ग्रहण करने का अधिकार उन्हे प्राप्त हो सकता था—

(१) उनके कार्यों की सीमा भारतीय प्रमण्डल विधान द्वारा निर्देशित व्यापार तक होगी।

(२) अपने कार्यो का समुचित लेखा समय-समय पर रिजर्व बैंक को देना होगा तथा खाता पुस्तको की जॉच करानी होगी। ऐसा न करने पर वे दण्ड के भागी होगे।

(३) उनकी कार्यशील पूजी कम-से-कम २ लाख होगी जिसे कालान्तर मे धीरे-धीरे ५ लाख तक पहुँचाना है।

(४) आवश्यकता पडने पर अनुसूचित अधिकोषो की भाति इन्हे अपने को रिजर्व बैंक के सम्मुख समर्पित करना होगा। ये अपने नाम रिजर्व बैंक की पुस्तको मे पाँच वर्षो तक लिखा सकते है। जब तक इनके दायित्व इनकी कुल पूजी के ५ गुने न हो जायँ इन्हे रिजर्व बैंक के पास कोई सुरक्षित कोष न रखना पडेगा।

यह योजना पाॅच वर्ष के लिए थी। इसके अनुसार किसी भी स्वदेशी बैंकर को प्रमण्डल मे रहने वाले अशधारियो के हितो का भी पूर्ण विवरण रिजर्व बैंक के पास देना था।

रिजर्व बैंक की इस योजना को स्वदेशी बैंकरो ने स्वीकार न किया। कुछ तो यह चाहते थे कि खाते नये ढग से रखे जायँ और कुछ सट्टे का

व्यापार भी नही छोडना चाहते थे। इन सब का कारण यह था कि वे केवल अधिकोषण व्यवसाय से सन्तुष्ट न थे। रिजर्व बैंक ने सन् १९४१ मे बम्बई के सर्राफ सघ से यह पूछा कि अधिकोषण व्यवसाय के अतिरिक्त कार्यो को छोड सकने वाले बैंकरो की सख्या कितनी है। सघ ने ऐसे बैंकरो की सख्या न बताकर यह सुझाव दिया कि अगले पॉच वर्षो मे अधिकोषण एव गैर अधिकोषण के कार्यो को अलग किया जा सकेगा और तभी उन पर रिजर्व बैंक निरीक्षण भी रख सकेगा। रिजर्व बैंक ने इस योजना को कार्यान्वित करना ठीक न समझा क्योकि वह तो इसे तत्काल ही व्यावहारिक रूप देना चाहता था। अधिकाश स्वदेशी बैंकरो द्वारा इस योजना के स्वीकार न किये जाने के कारण रिजर्व बैंक ने इसे स्थगित कर दिया और इससे सम्बन्धित कोई विधान भी न बनाया। इतना ही नही, इस योजना को कार्य रूप मे परिणत करने मे असमर्थता भी प्रकट की।

किन्तु अब स्वदेशी बैंकरो को नियत्रित एव नियम-बद्ध कर देने की अतीव आवश्यकता प्रतीत हो रही है। ऐसा हो जाने पर रिजर्व बैंक सरलतापूर्वक विवृत विपणि[1] की समस्त क्रियाएँ कर सकेगा और देश मे विपत्र-विपणि का विकास होगा। यह कार्य कठिन अवश्य है परन्तु रिजर्व बैंक को चाहिए कि वह स्वदेशी बैंकरो के साथ इस कार्य के लिए विनम्र समझौता करे। एक तरफ तो रिजर्व बैंक अपनी शर्तो को कुछ ढीली करे और दूसरी तरफ स्वदेशी बैंकर भी रिजर्व बैंक के नियमो के अदर आने का प्रयास करे, तभी यह योजना पूरी हो सकेगी। देश की साख व्यवस्था को सगठित बनाने के लिए स्वदेशी बैंकरो को नियमबद्ध करना बहुत आवश्यक है। साख व्यवस्था को सगठित एव विकसित करने के निमित्त ही धीरे-धीरे अधिकोषो का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है। इसलिए रिजर्व बैंक को स्वदेशी बैंकरो क नियमबद्ध बनाने की दिशा मे शीघ्र ही आवश्यक प्रयास करना चाहिए।

1. Wide market

रिजर्व बैंक द्वारा साख-नियत्रण

रिजर्व बैंक देश के अन्यान्य अधिकोषो की मुद्रा तथा साख को नियन्त्रित रखकर मुद्रा मूल्य को स्थिर बनाये रखने का प्रयास करता है और कालान्तर मे अधिकोष-दर (बैंक रेट) भी प्रकाशित करता रहता है। रिजर्व बैंक की साख के नियत्रण की विधि हम नीचे स्पष्ट रूप से देखेगे।

सर्वप्रथम इम्पीरियल बैंक ने साख-नियन्त्रण के लिए अधिकोष-दर जैसे साधन का सहारा लिया, किन्तु निम्नलिखित कारणो से इम्पीरियल बैंक द्वारा प्रयुक्त अधिकोष-दर अधिक कार्यशील न रही।

(१) अन्य व्यापारिक अधिकोषो के साथ इम्पीरियल बैंक की प्रतिस्पर्धा का होना तथा भारतीय मुद्रा-विपणि के विभिन्न अगो मे सहयोग का अभाव होना।

(२) इम्पीरियल बैंक द्वारा अधिकोष-दर का सदैव अपने लाभ के अनुकूल निर्धारित किया जाना।

(३) इम्पीरियल बैंक पर देश के साख-नियत्रण का कोई वैधानिक उत्तरदायित्व न होना। मुद्रा का प्रबन्ध सरकार करती थी तो साख का प्रबन्ध इम्पीरियल बैंक करता था।

(४) देश के विदेशी विनिमय-अधिकोषो का विदेशी मुद्रा-मण्डियो से सीधा सम्बन्ध होने के कारण इम्पीरियल बैंक की विदेशी विनिमय सम्बन्धी सेवाएँ उनके लिए कोई महत्त्व न रखती थी। तत्पश्चात् रिजर्व बैंक की स्थापना होते ही मुद्रा के प्रबन्ध एव साख के नियत्रण का सारा भार रिजर्व बैंक को सौपा गया। किन्तु रिजर्व बैंक साख-नियन्त्रण का भार पूर्ण रूप से न सँभाल सका। इसका कारण यह है कि हमारे देश मे केन्द्रीय अधिकोष की सेवाओ पर न तो जनता ही अधिक निर्भर रहती है और न देश के सारे अधिकोष ही। देश के अधिकोषो द्वारा केन्द्रीय अधिकोष के पास रखा जाने वाला सुरक्षित कोष भी अनुपात मे कम होता है और इसलिए वे अपने पास के सुरक्षित कोष से ही काम ले लेते है। इस प्रकार रिजर्व बैंक की अधिकोष दर की नीति अधिक सफल न रही और १९३५

मे रिजव बैंक ने अधिकोष दर ३ प्रतिशत निर्धारित की। सन् १९५१ मे ज्यो ही बैंक आफ इग्लैन्ड ने अपनी अधिकोष दर ३½ प्रतिशत से बढाकर ४ प्रतिशत कर दी, त्यो ही रिजव बैंक ने भी अपनी अधिकोष दर ३½ प्रतिशत कर दी। फिर मई सन् १९५७ मे रिजर्व बैंक ने इसको ४ प्रतिशत कर दिया। इस प्रकार देशी मुद्रा विपणियो मे होने वाली मुद्रा की सामयिक दुर्लभता तथा उसके फलस्वरूप ब्याज दर मे होने वाले परिवर्तन पर रिजर्व बैंक ने नियत्रण कर लिया और अधिकोष दर पूर्ववत् बनी रही।

साख-नियत्रण के लिए रिजर्व बैंक द्वारा प्रयुक्त किया जाने वाला दूसरा ढग विवृत विपणि की क्रियाओ का प्रयोग करना है। अपनी अधिकोष-दर को आवश्यकतानुसार नियत्रित रखने के लिए रिजर्व बैंक को स्कध विनिमय विपणि (स्टाक एक्सचेज मार्केट[1]) मे सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त प्रतिभूतियो के क्रय विक्रय का अधिकार प्राप्त है। किन्तु हमारे देश मे सगठित मुद्रा मण्डी तथा सुसगठित बिल बाजार की कमी सदैव बनी रही है। यही कारण है कि विनिमय बिलो का प्रचलन अधिक मात्रा मे नही होता है। स्कध विनिमय भी उन्नत अवस्था मे सुलभ नही है। परिणाम स्वरूप विवृत विपणि की क्रियाएँ आवश्यक सीमा तक साख-नियत्रण करने मे सहायक नही हो पायी है।

रिजर्व बैंक को साख-नियत्रण के सम्बन्ध मे अन्य प्रकार के भी अधिकार प्राप्त है। यथा—अधिकोषो पर नियत्रण रखना, जनता से सीधा लेन-देन करना और अधिकोषो को एक निश्चित सीमा के पश्चात् ऋण देने से रोकना आदि। किन्तु इस बैंक ने इन साधनो का समुचित प्रयोग अभी तक नही किया है। वैसे तो भारतीय अधिकोषण प्रमण्डल विधान १९४९ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को देश के अन्य अधिकोषो की ऋण-नीति को सचालित करने का विशेषाधिकार प्राप्त है, किन्तु उसका भी प्रयोग करने का अवसर रिजर्व बैंक को कभी प्राप्त नही हो सका है।

1 Stock exchange market

रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना

सन् १९३१ मे भारतीय अधिकोषण जॉच समिति ने भारतीय अधिकोषण प्रणाली पर यह आरोप लगाया कि बिल बाजार अविकसित रूप मे है। रिजर्व बैंक के अभाव मे इम्पीरियल बैंक ही देश के अधिकोषो के अधिकोष का कार्य करता था जो कि स्वय एक व्यापारिक अधिकोष था, इसलिए अन्य व्यापारिक अधिकोष उससे अपने बिलो की कटौती कराना अनादर समझते थे। परिणामस्वरूप व्यापारिक बिलो का प्रचलन अधिक न होता था बल्कि सरकारी प्रतिभूतियाँ प्रधान रूप से बिल बाजार मे दृष्टिगत होती थी। उन दिनो बिलो का प्रयोग करने की अपेक्षा नकद लेन-देन करने को लेनदार तथा अधिकोष दोनो ही अधिक सुविधा-जनक समझते थे।

रिजर्व बैंक की स्थापना होते ही यह आवश्यक समझा जाने लगा कि सामयिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बिलो को मुद्रा-प्रसार का आधार बनाया जाय। अधिकोषो के पास वर्तमान व्यापार की बढती हुई मौद्रिक माँग की पूर्ति के लिए राशि का अभाव बढता जा रहा था, जिसके कारण ये थे—अधिकोषो की जमा राशि कम होना, मूल्य स्तर का ऊँचा होना, आयात का बढना और अधिकोषो के पास सरकारी प्रतिभूतियो का कम होना आदि। इसलिए आवश्यक समझा गया कि बिलो का प्रचलन अधिक करके तथा बिल बाजार को विकसित करके इस कठिनाई को दूर किया जाय। इसलिए रिजर्व बैंक ने १६ जनवरी सन् १९५२ को बिल बाजार की एक योजना प्रकाशित की। इस योजना की मुख्य बाते निम्न प्रकार की थी—

(क) रिजर्व बैंक अपने तालिकाबद्ध अधिकोषो को उनकी माँग पर प्रतिज्ञा-पत्रो की जमानत द्वारा ऋण देगा। यह ऋण दो प्रकार का हो सकता है, एक तो प्रतिज्ञा-पत्रो की जमानत पर दिया जाने वाला ऋण जिसको ऋण लेने वाला कभी भी ले सकता है और कभी भी लौटा सकता है। दूसरा वह ऋण जो ९० दिन की अवधि के लिए ही दिया जा सकता है।

(ख) उपर्युक्त ऋण अधिकोष दर से १/२ प्रतिशत कम पर ही दिया जायगा।

(ग) इस ऋण के लिए लिखे जाने वाले बिलो अथवा पत्रो पर लगने वाले मुद्राक-कर का आधा व्यय रिजर्व बैंक स्वय ही सहन कर लेगा। इस प्रकार केवल आधा व्यय ही ऋण मॉगने वाले को देना पडेगा।

प्रारम्भ मे यह योजना केवल उन्ही अधिकोषो तक सीमित रखी गयी जिनकी जमा राशि १० करोड रुपये से अधिक थी। ऐसे अधिकोषो द्वारा एक बार मे ली जाने वाली ऋण की न्यूनतम राशि २५ लाख रुपया निर्धारित की गयी। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हे २५ लाख रुपये से कम राशि का ऋण मिलेगा ही नही। इसी प्रकार ऐसे बिलो पर जिनकी साख पर ऋण दिया जाता था, दिये जाने वाले ऋण की न्यूनतम सीमा १ लाख रुपया निर्धारित की गयी।

आगे चलकर इस योजना मे बराबर परिवर्तन होते रहे। जिन अधिकोषो की न्यूनतम जमा राशि भारत मे ५ लाख रुपये या इससे अधिक थी और रिजर्व बैंक द्वारा अनुज्ञा-पत्र प्राप्त हो गया था उन पर भी यह योजना कार्यान्वित कर दी गयी। पहली अक्तूबर सन् १९५३ से १००० रुपये पर एक आना से अधिक मुद्राक कर अधिकोषो को दिया जाने लगा। सर्राफ समिति की सिफारिशो के फलस्वरूप जुलाई १९५४ से सभी अनुज्ञा-पत्र-प्राप्त अनुसूचित अधिकोषो पर भी यह योजना लागू की गयी, चाहे उनकी जमा राशि कुछ भी हो। इतना ही नही, इस योजना के अन्तगत ऋण देने की न्यूनतम सीमा २५ लाख से घटाकर १० लाख कर दी गयी और प्रत्येक बिल की साख पर दिये जाने वाले ऋण की न्यूनतम सीमा १ लाख से घटाकर ५०,००० रुपये कर दी गयी।

किन्तु योजना को सफलता मिलते देख रिजर्व बैंक ने सुविधाओ को कम करना प्रारम्भ कर दिया। अब मुद्राक कर की पूरी रकम ऋण लेने वाले अधिकोष को ही देनी पडती थी। मार्च सन् १९५६ से योजना के अन्तर्गत दिये जाने वाले ऋण पर लिये जाने वाले ब्याज की दर ३ प्रतिशत से बढाकर ३½ प्रतिशत कर और फिर ३½ प्रतिशत भी कर दी गयी।

फरवरी १९५७ से सरकारी प्रतिभूतियो की जमानत पर दिये गये ऋणो पर ब्याज की दर ३½ प्रतिशत से बढाकर ४ प्रतिशत कर दी गयी। नवम्बर सन् १९५६ के पूरक बजट मे सरकार द्वारा मुद्राक कर की दर बढा दी गयी इसलिए इस योजना के अन्तर्गत लिये गये ऋण पर ब्याज की दर ३½ प्रतिशत होते हुए भी वास्तविक व्यय ४ प्रतिशत ही होता था। इसका कारण यह था कि अधिकोषो को मुद्राक-कर भी सहन करना पडता था। १६ मई १९५७ से अधिकोष दर को ३½ प्रतिशत से बढाकर ४ प्रतिशत कर दिया गया। इसके अतिरिक्त योजना के अन्तर्गत बिलो पर भी अब ४ प्रतिशत ब्याज लगने लगा। उसी समय सरकार ने बिलो के मुद्राक कर को घटाकर १।५ प्रतिशत कर दिया। इस प्रकार १६ मई १९५७ से योजना के अन्तर्गत बिलो पर लिये गये ऋण पर ३ प्रतिशत ब्याज और १।५ प्रतिशत मुद्राक कर अधिकोषो को देना पडता था।

इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक द्वारा दिये गये ऋणो का विवरण इस प्रकार है—

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	रिजर्व बैंक विधान की धारा १७।४। अ के अन्तर्गत प्रतिभूतियो की साख पर	रिजर्व बैंक विधान की धारा १७।४।स के अन्तर्गत योजना के अनुसार	योग
१९५१	७६ ५७		७६ ५७
१९५२	१६४ २५	८१ ४५	२४५ ७०
१९५३	१२९ ५८	६५ ८४	१९५ ४२
१९५४	१८८ ७०	१४७ ५२	३३६ २२
१९५५	१९९ ९४	२२५ ४४	४२५ ३८
१९५६	४६६ ९५	४३६ ८२	९०३ ७७
१९५७	३५३ ७८	४१४ ८१	७६८ ५९

उपर्युक्त ऑकडो की तालिका से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना अपने विशेष उद्देश्य को पूर्ण करने मे सफल

रही है। यद्यपि इस योजना के अन्तर्गत दिये जाने वाले ऋणो पर लिये जाने वाले ब्याज की दर को ३ प्रतिशत से बढाकर ३¼ प्रतिशत, फिर ३½ प्रतिशत और तत्पश्चात् ४ प्रतिशत भी कर दिया गया, तब भी अन्य अधिकोषो ने ऋण लेना जारी रखा। इसका स्पष्ट अर्थ हे कि इस योजना के प्रति अधिकोषो का विश्वास जम गया है तथा बिलो की लोक-प्रियता बढती जा रही है। रिजर्व बैंक ने इस योजना को अपनी नीति का एक महत्वपूण और आवश्यक अग मान लिया है।

जनता के प्रति रिजर्व बैंक की प्रत्यक्ष सेवाएँ

रिजव बैंक को विधानत यह अधिकार प्राप्त है कि इस बैंक की केन्द्रीय समिति अथवा गवर्नर भारतीय व्यापार एव उद्योग के हित के निमित्त इसकी साख-नीति को ढीली करने की सलाह दे। यह जन-साधारण और प्रमण्डलो के साथ भी प्रत्यक्ष लेन-देन करने के विचार से निम्न सेवाएँ प्रदान कर सकता है—

(१) विशेष परिस्थितियो मे किसी असदस्य अधिकोष अथवा सरकारी अधिकाष की मान्यता-प्राप्त हस्ताक्षर वाले बिलो का ऋय-विक्रय तथा भुगतान सीधे जनता को कर सकता है।

(३) किसी भी सदस्य अधिकोष को पूर्व निश्चित शर्तो पर १० लाख रुपयो तक ऋण दे सकता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध एव रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

द्वितीय विश्व युद्ध के समय रिजर्व बैंक को अपनी कार्य-विधि मे बहुत से आवश्यक परिवर्तन करने पडे। युद्ध के प्रारम्भ मे ही सरकार ने राशि के आयात एव निर्यात के नियन्त्रण का भार रिजर्व बैंक को सौप दिया और यह अधिकार प्रदान किया कि वह सिक्को, धातुओ, प्रतिभूतियो तथा विदेशी विनिमय के ऋय-विक्रय का नियत्रण करके उनके लेन-देन का नियमन भी करे। बैंक ने विदेशी विनिमय के नियमन के लिए अधिकृत व्यक्तियो की नियुक्ति की और ऐसे अधिकृत व्यक्तियो को आवश्यक सुविधाएँ भी दी। बैंक ने विनिमय-यिनत्रण विभाग की स्थापना की। युद्ध

को तेज होते देख इस विभाग के काय-क्षेत्र तथा अधिकार बढा दिये गये। सन् १९४८ के पश्चात् भारत का भुगतान-सतुलन बहुत कुछ बिगड गया तथा विदेशी विनिमय की अत्यत कमी पडने लगी। रिजर्व बैंक ने इस गभीर स्थिति को भरसक सँभाला।

सरकार की युद्धकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए रिजर्व बैंक को असीमित मात्रा मे नोट निगमन करना पडा। इसका परिणाम यह हुआ कि देश मे घोर मुद्रा-स्फीति छा गयी। सन् १९३९-४० मे केवल १९० करोड रुपयो के नोट चलते थे परन्तु सन् १९४५-४६ मे उनकी सख्या बढकर लगभग १३०० करोड रुपया हो गयी। देश मे भयकर मुद्रा-स्फीति आने से इग्लैड का स्टर्लिंग ऋण बहुत बढ गया। यद्यपि यह मुद्रा-स्फीति रिजर्व बैंक के द्वारा ही लायी गयी थी पर इसके लिए वह दोषी नही ठहराया जा सकता।

युद्धकाल मे सरकार ने जनता से बहुत अधिक ऋण ले लिया था। उसका प्रबन्ध सचालन भी रिजर्व बैंक को करना पडा। इसके अतिरिक्त सरकारी प्रतिभूतियो के मूल्य मे स्थायित्व रखने के लिए रिजव बैंक को अथक प्रयत्न करना पडा। सरकार की सस्ती राशि-नीति का सचालन भी इसी बैंक ने किया। सन् १९३९ मे भारत सरकार के कुल जन-ऋण का योग लगभग ५०० करोड रुपये था और वही सन् १९४६ मे बढ़कर लगभग २००० करोड रुपया हो गया। देश के पौण्ड पावने को स्थिर रखने मे भी रिजर्व ने अत्यधिक सहयोग दिया।

रिजर्व बैंक के युद्धकालीन कार्यो के सम्बन्ध मे यह आरोप लगाया जाता है कि उसने जनता के हितो की कुछ भी परवाह न करते हुए सरकार की नीति का अनुगमन किया और इस प्रकार देश मे भयकर मुद्रा-स्फीति छा गयी तथा वस्तुओ का मूल्य ऊँचा हो गया। किन्तु निष्पक्ष भाव से अवलोकन करने पर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जायगा कि यह दोष आधार-रहित तथा निर्मूल है। सारा दोष सरकार को ही दिया जाना चाहिए। क्योकि रिजर्व बैंक ने तो सदैव सरकार को देश मे बढने वाले [illegible]स्तर की

पर्याप्त सूचना देने का प्रयास किया, फिर भी सरकार ने रिजर्व बैंक की बाते अनसुनी कर दी।

रिजर्व बैंक की युद्धोत्तरकालीन समस्याएँ

द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने पर भी रिजर्व बैंक को शाति न मिली। उसे अनेक प्रकार की समस्याओ का सामना करना पडा जो कि निम्न प्रकार की थी—

(१) मुद्रा-स्फीति—युद्ध के पश्चात् जून सन् १९४८ तक मुद्रा का प्रसार होता रहा। अगस्त सन् १९४६ के पश्चात् प्रतिभूतियो के मूल्य मे एकाएक अवसाद या गिरावट हुई। इस अवसाद को रोकने के लिए रिजव बैंक ने विवृत विपणि की क्रियाओ का सहारा लिया। विवृत विपणि की क्रियाओ से यह लाभ हुआ कि अधिकोषो को राशि-सग्रह मे सुविधा हो गयी और इस प्रकार मुद्रा की सामयिक आवश्यकता पूरी हो सकी। रिजव बैंक ने अन्य अधिकोषो से सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय किया जिससे उन अधिकोषो को ऋण देने के निमित्त राशि प्राप्त होती रही। सन् १९४८-४९ की अपेक्षा सन् १९४९-५० मे अधिकोषो ने लगभग १० करोड रुपये का अधिक ऋण प्रदान किया और फिर ऋण की मात्रा क्रमश बढती गयी।

(२) देश का विभाजन—अगस्त सन् १९४७ मे देश का विभाजन होते ही रिजर्व बैंक के दायित्वो मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ। जुलाई सन् १९४८ तक रिजर्व बैंक को भारत के साथ-ही-साथ पाकिस्तान के केन्द्रीय अधिकोष के रूप मे भी कार्य करना पडा क्योकि उस समय तक पाकिस्तान मे किसी केन्द्रीय अधिकोष की स्थापना न हो सकी थी। दोनो सरकारो की राशियो का प्रबन्ध तथा जन-ऋण का सचालन भी रिजर्व बैंक को ही करना पडा। ज्यो ही पाकिस्तान मे केन्द्रीय अधिकोष की स्थापना हुई रिजर्व बैंक की सम्पत्ति का विभाजन किया गया, जिसमे १५३ करोड रु० मूल्य के स्टर्लिंग, सोना तथा भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ पाकिस्तान के केन्द्रीय अधिकोष को दी गयी। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान मे चलने

वाले भारत सरकार के नोटो के बदले मे ८२ करोड रुपया रिजर्व बैंक से पाकिस्तान के केन्द्रीय अधिकोष को और दिया गया। किन्तु यह ध्यान रहे कि रिजर्व बैंक ने ये सारे हस्तातरण एव लेन-देन के कार्य इतनी सावधानी एव कुशलतापूर्वक किये कि भारतीय मुद्रा एव साख व्यवस्था पर उसका कोई भी विपरीत प्रभाव न पड सका।

(३) अधिकोषण सकट—देश का विभाजन होने के कारण अनेक भारतीय अधिकोषो को महान् सकट का सामना करना पडा और उन्हे यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि वे अपनी सम्पत्ति का हस्तातरण कर ले। यह सकट विशेष कर उन अधिकोषो पर आया जिनके कार्यालय पाकिस्तान मे थे। इस कार्य मे रिजर्व बैंक ने उन अधिकोषो को पर्याप्त सुविधा एव सहयोग प्रदान किया। बगाल के अधिकोष विशेष रूप से इस सकट से प्रभावित हुए थे। रिजर्व बैंक ने अपनी सेवाओ से देश को पुन अधिकोषण सकट आने से बचा लिया।

(४) मुद्रा की दुर्लभता—सन् १९४८ के पश्चात देश मे मुद्रा की महान् दुर्लभता होने लगी थी। यहाँ तक दुर्लभता हुई कि देश का भुगतान सतुलन भी प्रतिकूल होने लगा। दिसम्बर सन् १९४८ से अगस्त १९४९ तक विदेशी मुद्रा का अभाव इतना बढ गया कि रिजर्व बैंक के विदेशी मुद्रा कोष मे लगभग २१९ करोड रुपये की कमी हो गयी। एक ओर तो उत्पादन न बढ सका और दूसरी ओर आयात पर कोई प्रतिबध न रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यापारी वर्ग ने भविष्य मे माल के अभाव का अनुमान लगाकर विदेशो से अधिक मात्रा मे माल एक साथ क्रय करना प्रारम्भ कर दिया। अधिकोषो से अधिक मात्रा मे जमा की राशि निकाले जाने से भी सभी ओर मुद्रा का अभाव दृष्टिगोचर होने लगा। मुद्रा की मात्रा मे कमी आने का एक कारण यह था कि उन दिनो लोगो की बचत कम हो गयी थी। मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करने के विचार से रिजर्व बैंक ने तालिकाबद्ध अधिकोषो के पास वाली सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय करना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने सरकार द्वारा मान्यता-प्राप्त प्रतिभूतियो की जमानत पर अपने अनुसूचित अधिकोषो को ऋण प्रदान करना भी प्रारम्भ कर दिया। १४ जनवरी सन् [illegible] को इस

प्रकार प्रदान किये हुए ऋणो की मात्रा २३ करोड रुपये थी। रिजर्व बैंक ने अन्य अधिकोषो की सट्टेबाजी को रोकने का प्रयास किया और उन्हे ऋण प्रदान करने से वचित रखा। सितम्बर सन् १९४९ मे भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन हुआ और इसके पश्चात् देश के मूल्य-स्तर को बढने से रोकने का कार्य रिजर्व बैंक ने सपादित किया।

(५) साख नियत्रण—सन् १९५१ मे रिजर्व बैंक ने सर्वप्रथम साख नियत्रण के लिए दो महत्वपूर्ण कदम उठाये। एक तो यह कि नवम्बर के महीने से इसने अपनी कटौती-दर को ३ प्रतिशत से बढाकर ३½ प्रतिशत कर दिया, और दूसरे, बैंक ने व्यापारिक अधिकोषो की सरकारी प्रतिभूतियो को केवल विशेष परिस्थितियो को छोडकर क्रय न करने का निर्णय किया तथा यह भी घोषित किया कि अब वह इन अधिकोषो को सरकारी प्रतिभूतियो की जमानत पर ऋण न देगा। यह सब कुछ रिजर्व बैंक ने अपनी अधिकोष-दर अधिक प्रभावशील बनाने के निमित्त किया। अधिकोष-दर को ऊँची करने से यह लाभ हुआ कि साख-सकोचन होने लगा। इधर इम्पीरियल बैंक ने भी अपनी अधिकोष दर को २¾ प्रतिशत से बढाकर ३ प्रतिशत कर दिया और तत्पश्चात ३½ प्रतिशत कर दिया। विनिमय अधिकोषो ने अपनी दर मे १।२ प्रतिशत की वृद्धि की। इसके अतिरिक्त अन्य अधिकोषो ने भी अपनी-अपनी ब्याज दर मे १।४ प्रतिशत तथा १।२ प्रतिशत की वृद्धि की। अब अधिकोषो ने ऋण देते समय अत्यधिक सावधानी से काम प्रारम्भ कर दिया और ऋण-राशि मे पर्याप्त कमी की। साथ-ही-साथ दिये हुए ऋणो को वापस माँगने लगे तथा ऋणो पर आनुषगिक प्रतिभूतियो की मात्रा मे वृद्धि करने पर जोर देने लगे। इस प्रकार चारो ओर मुद्रा-सकोच होने लगा। यद्यपि रिजर्व बैंक ने अन्य अधिकोषो को ऋण देने पर प्रतिबध लगाने या अधिक सावधानी बरतने से सम्बन्धित कोई आदेश नही दिया था, फिर भी उसकी अधिकोष-दर मे वृद्धि होने से इस प्रकार का वातावरण स्वय ही सभी ओर बन गया। इन सब बातो से स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक का आधिपत्य सर्वत्र बढता ही जा

इस महान् मुद्रा-सकोच के समय रिजर्व बैंक ने सभी अधिकोषो की सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय न करते हुए भी उनकी साख पर ऋण देने की घोषणा तो कर ही दी। इससे अधिकोष-दर को अधिक बल एव प्रोत्साहन मिला। अधिकोष-दर बढाने के पश्चात् ६ सप्ताहो मे ही रिजर्व बैंक ने अन्य अधिकोषो को सरकारी प्रतिभूतियो की जमानत पर लगभग १७ करोड रुपये का ऋण प्रदान किया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुद्रा की सामयिक दुर्लभता दूर होती गयी और साथ-ही-साथ अधिकोष-दर भी प्रभावशाली बनती गयी।

आर्थिक आयोजन एव रिजर्व बैंक की साख नीति

रिजर्व बैंक की साख नीति को देश के आर्थिक आयोजनो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योकि आर्थिक योजना के उद्देश्यो की पूर्ति के साथ-ही-साथ देश की राष्ट्रीय आय मे वृद्धि और मुद्रा की उपलब्धि भी इससे बढ जायगी। अधिकोषो द्वारा दी जाने वाली ऋण-मात्रा मे भी वृद्धि होगी। इन सभी कारणो से तथा हीनार्थ-प्रबन्धन[1] की नीति को अपनाने के फलस्वरूप देश मे वस्तुओ के मूल्य-स्तर के बढने की सम्भावना की जाती है। अधिकोषो को चाहिए कि वे अपनी साख नीति को इतनी नियत्रित रखे कि मूल्य-स्तर बढने न पाये तथा आवश्यकता के समय पूजी का अभाव भी न होने पाये। रिजर्व बैंक ने इन्ही उद्देश्यो की पूर्ति के हेतु गुणात्मक साख-नियत्रण नीतिका अनुसरण किया है। अधिकोषण प्रमण्डल विधान १९४९ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक आफ इन्डिया को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अधिकोषो के अहितकर कार्यो पर रोक लगा दे। आयोजन काल मे रिजर्व बैंक ने इसी शक्ति की आड ली है। विशिष्ट वस्तुओ की साख पर उधार देने से अधिकोषो को वचित किया गया ताकि इस प्रकार से ऋण लेकर लोग उन विशिष्ट वस्तुओ का सग्रह करके उनके भाव मे किसी प्रकार की वृद्धि न कर सकें। १७ मई सन् १९५६ को रिजव बैंक ने

1 Deficict financing

अपने अनुसूचित अधिकोषो को धान और चावल की साख पर ५०,००० रुपये से अधिक रकम उधार देने पर रोक लगा दी तथा इनके लिए जमानत की सीमा को भी १० प्रतिशत बढा दिया। इस नियन्त्रण के फलस्वरूप धान और चावल की साख पर दिये गये ऋण की राशि २७ अप्रैल १९५६ वाले २६ करोड से घटकर २६ अक्तूबर सन् १९५६ को केवल ४ करोड रुपये ही रह गयी। इसलिए १४ नवम्बर १९५६ को यह आदेश वापस ले लिया गया। आदेश को वापस लेते ही ८ फरवरी सन् १९५७ को फिर इस प्रकार ली जाने वाली ऋण की राशि २१ करोड रुपये हो गयी। अत इस प्रकार का प्रतिबध पुन लगाया गया। १३ सितम्बर सन् १९५६ को गेहूँ, मोटे अन्न, चना, दाल और सूती कपडे की जमानत पर ५०,००० रुपये से अधिक ऋण प्रदान करने के लिए अनुसूचित अधिकोषो पर प्रतिबध लगाया गया। इसलिए इन वस्तुओ की साख पर दिये गये ऋण की राशि मे कमी आ गयी और इन वस्तुओ के मूल्य पुन गिरने लगे।

७ जून सन् १९५७ को रिजर्व बैंक ने अपने तालिकाबद्ध अधिकोषो को खाद्यान्न की वस्तुओ की साख पर ऋण प्रदान करने की प्रवृत्ति को कम करने का निर्देश दिया। इस निर्देश की मुख्य बाते निम्न प्रकार की थी।

(१) खाद्यान्न की जमानत की वर्तमान सीमा मे कम-से-कम पाँच प्रतिशत की वृद्धि अवश्य की जाय ताकि जमानत की दर ४० प्रतिशत से कम न रहे।

(२) खाद्यान्न की जमानत पर प्रदान किये गये उधार की व्यवस्था इस प्रकार से होनी चाहिए कि १२ जुलाई तक तथा उसके पश्चात् प्रति सप्ताह धान और चावल के रूप मे दिये गये उधार की सीमा सन् १९५६ के तत्सम्बन्धी सप्ताह वाली सीमा के ६६⅔ प्रतिशत से अधिक न हो तथा अन्य खाद्यान्नो के सम्बन्ध मे ७५ प्रतिशत से अधिक न हो।

(३) धान और चावल की जमानत पर ५०,००० रुपये से अधिक ऋण किसी को न दिया जाय।

रिजर्व बैंक के उक्त निर्देशो के फलस्वरूप अधिकोषो ने अपनी साख मे कमी कर दी और वस्तुओ का मूल्यस्तर नियत्रित हो गया। इसलिए हम कह सकते है कि रिजर्व बैंक की यह नीति सफल रही। इस नीति की सफलता देश के सभी अधिकोषो से मिलने वाले सहयोग पर ही आश्रित है। अत यदि अधिकोषो का सहयोग मिलता रहे तो गुणात्मक साख नीति आर्थिक आयोजन की सफलता का एक आवश्यक अग बन सकती है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के समय आयोजको ने १२०० करोड रुपयो के हीनार्थ-प्रबन्ध की आवश्यकता बतायी, क्योकि इस योजना की व्यवस्था के लिए धन की कमी हो गयी। ऐसी हालत मे रिजर्व बैंक आफ इन्डिया के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह नोट का निर्गमन करे और साख का उचित नियमन करे। अत रिजव बैंक के विवान मे कुछ सशोधन करने पडे ताकि उसको तत्सम्बन्धी विशेषाधिकार प्रदान किये जा सके। ये सशोधन निम्नलिखित हे।

१ रिजर्व बैंक के नोट निर्गमन विभाग मे विदेशी प्रतिभूतियो की न्यूनतम सीमा ४०० करोड रुपये मूल्य की हो सकती है। आवश्यकता पडने पर यह न्यूनतम सीमा ३०० करोड रुपयो के मूल्य तक की जा सकती है। फिर भी केन्द्रीय सरकार कोई भी दण्ड नही लगायेगी।

२ नोट-निर्गमन विभाग मे सोना तथा सोने के सिक्को की न्यूनतम सीमा ११५ करोड रुपये मूल्य की रखी जा सकती है।

इस प्रकार नोट निर्गमन के लिए पत्र-मुद्रा कोष मे कम-से-कम ४०० करोड रुपयो के मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियाँ एव ११५ करोड रुपयो के मूल्य का सोना और सोने के सिक्के अर्थात् कुल मिलाकर ५१५ करोड रुपये मूल्य का न्यूनतम कोष रखना आवश्यक कर दिया गया। अब तक तो पत्र-मुद्रा का चलन आनुपातिक कोष-पद्धति के आधार पर होता रहा जिसके अनुसार निगमित मुद्रा के मूल्य का ४० प्रतिशत विदेशी प्रतिभूतियो, सोने और सोने के सिक्को के रूप मे रखना आवश्यक था एव शेष चाँदी, चाँदी के सिक्के तथा देशी बिलो के रूप मे सुरक्षित रखा जा सकता था, परन्तु अब न्यूनतम कोष प्रणाली अपना ली गयी।

३ अब तक तो नोट निर्गमन विभाग मे रखे गये सुरक्षित कोष के सोने का मूल्य १ रुपया ८४७५१२ ग्रेन, अर्थात् २१ रुपये १३ आने १० पाई प्रति तोला था। इस दर पर रिजर्व बैंक के पास ४० ०२ करोड रुपये के मूल्य का सोना था। किन्तु सशोधन के पश्चात् सुरक्षित सोने का मूल्याकन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा निर्धारित दर यानी ३५ डालर प्रति औस, अर्थात् १ रुपया = २ ८८ ग्रेन या ६२ रुपये ८ आने प्रति तोला होने लगा है। इस दर पर बैंक के पत्र-मुद्रा कोष वाले सोने का मूल्य ११५ करोड रुपया हो गया है।

४ रिजर्व बैंक अपने अनुसूचित अधिकोषो द्वारा अपने पास जमा की जाने वाली राशि मे वृद्धि कर सकता है। अब तक अनुसूचित अधिकोष अपनी माँग-देनदारी का ५ प्रतिशत तथा काल-देनदारी का २ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा करते थे परन्तु सशोधन के पश्चात् रिजर्व बैंक उन अधिकोषो से उनकी माँग-देनदारी का ५ प्रतिशत से २० प्रतिशत तथा काल-देनदारी का २ प्रतिशत से ८ प्रतिशत तक अपने पास जमा कर सकता है।

सन् १९५७ मे नोट-निर्गमन की पद्धति मे और भी ढिलाई कर दी गयी। रिजर्व बैंक के पत्र-मुद्रा कोष मे अब कुल मिलाकर २०० करोड रुपये की ही प्रतिभूतियाँ रखी जाती है। जिसमे से ११५ करोड रुपये के मूल्य का सोना तथा शेष ७५ करोड रुपये के मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियाँ होगी। इससे स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक और भारत सरकार दोनो ही विदेशी प्रतिभूतियो की न्यूनतम सीमा को भी समाप्त कर देना चाहते है। इसके लिए वे यह तर्क प्रस्तुत करते है कि विदेशी प्रतिभूतियाँ विशेष अवसरो के लिए ही रखी जाती है और इस समय पचवर्षीय योजना के लिए विदेशी प्रतिभूतियो की आवश्यकता है, तो फिर उनका प्रयोग मे अवश्य लाना चाहिए।

रिजर्व बैंक का आलोचनात्मक अध्ययन

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया के कार्य-कलापो एव विधान का पूर्ण अध्ययन

कर लेने के पश्चात् यह युक्ति-सगत प्रतीत होता है कि उन पर एक आलोचनात्मक दृष्टि भी डाली जाय।

रिजर्व बैंक को नोट-निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त है अत उसे देश की सम्पूर्ण मुद्रा एव साख पर पूर्ण नियत्रण रखना चाहिए, किन्तु अपने सम्पूर्ण जीवन-काल मे वह न तो देश की साख प्रणाली को व्यवस्थित कर सका है और न तो बिल-बाजार को ही सगठित और विकसित कर सका है। देश मे एक व्यवस्थित बिल-बाजार के अभाव के कारण केन्द्रीय अधिकोषण की नीतियो को भी पूर्ण सहयोग प्राप्त नही हो पा रहा है। इसके अतिरिक्त और भी दोष आलोचको ने दिखाये है, जैसे रिजर्व बैंक स्वदेशी बैंकरो को नियमबद्ध नही कर सका है, युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति को रोक नही सका और न तो कृषि-साख की व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध ही कर सका है। परन्तु यदि तटस्थ होकर उन परिस्थितियो पर जिनमे यह बैंक अपना कार्य सम्पादन करता रहा है, निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इसने पूरी शक्ति और सावधानी से कार्य किया है और इसका बहुत कुछ कार्य सतोषप्रद रहा है। हाँ, जो काय रिजर्व बैंक न कर सका उसके लिए वह अकेला दोषी नही ठहराया जा सकता बल्कि उसके विधान का दोष माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त विदेशी सरकार भी इस दोष की भागी रही है। साख पर पूर्ण नियत्रण न रख सकने या साख-व्यवस्था को पूर्ण-रूपेण सगठित न कर सकने के निम्न कारण हो सकते है।

(१) विदेशी विनिमय के क्षेत्र मे सोने तथा स्टर्लिंग की प्रतिभूतियो का क्रय करने के लिए रिजर्व बैंक की जमा राशि अपर्याप्त है। देश मे सोने के सिक्के तो चलते नही इसलिए रुपये को सोने मे बदल कर विदेशी लेन-देन का भुगतान किया जाता है। देश मे सोने के प्रयोग को रोकने के लिए नोटो का निर्गमन किया जाता है। सुरक्षित रखे हुए सोने का प्रयोग केवल बाह्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे किया जाता है। किन्तु यह सुरक्षित स्वर्ण पूरा नही पडता।

(२) स्वदेशी बैंकर रिजव बैंक के नियमो से आबद्ध नही है। जब

भी रिजर्व बैंक अपनी अधिकोष दर के द्वारा साख के नियत्रण का प्रयत्न करता है ये देशी बैंकर अपने कार्य-कलापो से मुद्रा-मण्डी को प्रभावित कर डालते है। इनकी सख्या अधिक होने के कारण इनको नियत्रित करने के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक के अनेक प्रयत्न विफल रहे है ।

(३) रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित मॉग-देनदारी और काल-देनदारी की न्यूनतम रकम को जमा कर देने के पश्चात् भी तालिकाबद्ध अधिकोषो के पास इतनी अधिक राशि बची रह जाती है कि वे जनता की 'सामयिक मॉग का भुगतान अपने ही पास से मनमाने ढग पर कर देते है और इस प्रकार रिजर्व बैंक की नीति और नियन्त्रण व्यर्थ हो जाता है। यह दोष रिजर्व बैंक के विधान का माना जा सकता है।

(४) देश मे व्यावसायिक बिलो का भी प्रयोग नही होता। स्वदेशी बैंकर अपनी निजी राशि से व्यापार करने के कारण मनचाहा ब्याज लेते है। इस प्रकार देश के विभिन्न भागो मे विभिन्न ब्याज दर प्रचलित है इनका अन्य अधिकोषो की ब्याज दर से कोई सम्बन्ध ही नही स्थापित हो पाता। जब ये अधिकोष मुद्रा-मण्डी की ब्याज दर को नियत्रित नही कर पाते तो रिजर्व बैंक जो एक केन्द्रीय सस्था है और जिसका कोई सीधा सम्बन्ध मुद्रा मण्डी के इन अधिकोषो से नही है, साख नियत्रण करने मे असफल हो ही जायगा।

(५) बहुत से छोटे-छोटे अधिकोष जो कि देश के विभिन्न भागो मे अपना कार्य कर रहे है, रिजर्व बैंक के विधान से प्रभावित नही हो पाते है, उनको रिजर्व बैंक के नियन्त्रण मे लाने की आवश्यकता है। हॉ, यह बात अवश्य है कि रिजर्व बैंक के विधान की शर्तो को पूरा करने मे वे असमर्थ रहते है। इसलिए बैंक के विधान की उन शर्तो को कुछ ढीला करना आवश्यक है ताकि २० वर्ष से अधिक कार्य करने वाले अधिकोष जिनकी पूँजी १ लाख रुपये की हो, वे भी रिजर्व बैंक के सदस्य बन सके ।

आलोचको का यह भी कहना है कि रिजर्व बैंक आफ इन्डिया ने मुद्रा मण्डी को आशातीत सीमा तक नियत्रित एव सगठित नही किया है। मुद्रा मण्डी का विकसित और सगठित होना बहुत कुछ इस बात पर आश्रित

होता है कि देश के सभी सदस्य अधिकोष किस सीमा तक ऋण लेने तथा बिलो की कटौती कराने के लिए रिजर्व बैंक पर आश्रित रहते है तथा मुद्रा-मण्डी की अन्य सस्थाएँ, जैसे विदेशी बैंकर किस सीमा तक ऋण लेने एव बिलो की कटौती कराने के लिए रिजर्व बैंक की सहायता लेते है। यदि ये अधिकतम सीमा तक रिजर्व बैंक पर ही आश्रित रहते है तो निस्सदेह मुद्रा-मण्डी का सगठन अच्छा होगा। किन्तु भारतवर्ष मे ऐसा नही है। रिजर्व बैंक की स्थापना ही ऐसे समय मे हुई जब कि अवसाद अपनी चरम सीमा पर पहुँचा था। रुपये की अधिकता थी ही इसलिए ब्याज दर भी गिरी हुई थी। तालिकाबद्ध अधिकोषो के पास राशि की इतनी अधिकता थी कि वे सदैव से स्वतन्त्र रहे है और उपर्युक्त कार्यो के लिए रिजर्व बैंक की सहायता की आवश्यकता उनको नही हुई। छोटे अधिकोषो को यदि कोई परेशानी हुई भी तो उन्होने अपने बडे अधिकोषो की सहायता ले ली। यही सब कारण है कि रिजर्व बैंक मुद्रामण्डी को सगठित करने मे असफल रह गया।

भारतवर्ष मे व्यापारिक अधिकोषो की सख्या भी कम है और निकट भविष्य मे उनकी सख्या बढने की आशा भी नही की जाती है। मुद्रा मण्डी मे बाजार-बिलो की दर बहुत अधिक है। कभी-कभी तो ऐसा भी हो जाता है कि बाजार-बिलो की दर अधिकोष-दर से भी अधिक हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक के सदस्य अधिकोषो का अन्य छोटे अधिकोषो तथा बिलो आदि पर बहुत कम नियन्त्रण है। इसलिए रिजर्व बैंक, जिसका स्वदेशी बैंकरो पर प्रत्यक्ष कोई नियन्त्रण नही है अपने सदस्य अधिकोषो की सहायता से भी कोई नियन्त्रण रख सकने मे असमर्थ हो जाता है।

इसके पश्चात् आलोचको का यह कहना है कि रिजव बैंक द्वारा लागू की हुई अधिकोष दर भी अधिक कार्यशील एव प्रभावशाली नही रही है। किन्तु यही दशा तो आज विश्व के सारे देशो के केन्द्रीय अधिकोषो की भी है। हाँ, भारत की स्थिति इस सम्बन्ध मे कुछ भिन्न अवश्य है, और वह यह कि देश के विभिन्न भागो मे विभिन्न ब्याज दर प्रचलित है। कही तो ब्याज की दर ऊँची है और कही नीची। यदि कभी रिजर्व बैंक ने

अधिकोष-दर का सहारा लेने का प्रयास भी किया तो देश मे प्रचलित विभिन्न-व्याज-दरो के कारण उसकी अधिकोष-दर देश भर की ब्याज-दर मे समानता स्थापित कर सकने मे पूर्णतया असफल ही रही। इस दोष का भागी रिजर्व बैंक स्वय नही बल्कि स्वदेशी बैंकर और उनकी कार्य-प्रणाली है।

प्राय सदस्य अधिकोष रिजर्व बैंक से बिलो की कटौती कराने की अपेक्षा ऋण ही लेना अधिक पसन्द करते है। इसका कारण यह है कि ऋण के पुनर्भुगतान मे उनको यह सुविधा होती है कि वे कभी भी ऋण को लौटा सकते है, परन्तु बिल के सम्बन्ध मे यह बात नही है, क्योकि बिल के भुगतान की तो अवधि होती है। इसके अतिरिक्त बिल पर ब्याज दर भी ऊँची होती है। यद्यपि रिजर्व बैंक अपनी नीति स्पष्ट रूप से यह घोषित करता है कि उसका लक्ष्य ऋणो के भुगतान की प्रवृत्ति को हतोत्साहित तथा बिलो के भुगतान की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना है।

रिजर्व बैंक की विवृत विपणि क्रियाएँ भी साख नियत्रण का उद्देश्य पूरा कर सकने मे असमर्थ पायी जाती है। यद्यपि उसे यह अधिकार प्राप्त है कि सोने और विदेशी प्रतिभूतियो की आड मे नोटो का प्रकाशन इच्छित मात्रा मे कर सकता है। परन्तु जैसा कि युद्धकाल मे इस शक्ति का प्रयोग इस बैंक ने किया था उससे यह स्पष्ट है कि ऐसी क्रियाओ का प्रयोग किसी असाधारण परिस्थिति मे ही वाछनीय होता है। इस सम्बन्ध मे डा० मुरजन ने सुझाव दिया है कि सदस्य अधिकोषो को एक निश्चित राशि अनिवार्य रूप से रिजर्व बैंक के पास जमा के रूप मे रखनी चाहिए। हाँ, यह अवश्य है कि सयुक्त राज्य अमेरिका की भाति ही अधिकतम और न्यूनतम प्रतिशत की सीमा निर्धारित कर दी जानी चाहिए, ताकि उन दोनो सीमाओ के बीच ही सदस्य अधिकोष राशि जमा करते रहे।

विवृत विपणि क्रियाओ की पद्धति को अधिक प्रभावशील बनाने के लिए रिजर्व बैंक को अपने विधान मे आवश्यक सशोधन करना चाहिए ताकि सदस्य अधिकोष चल सम्पत्तियो, गोदाम के बिलो, बीजक, रेलवे एवं गोदाम [illegible] रसीदो पर भी ऋण प्रदान कर सके। इस सम्बन्ध मे यह

प्रतिबंध लगाना अनिवार्य है कि इस विशेषाधिकार का प्रयोग लाभ कमाने के लिए नही वरन् तत्कालीन परिस्थितियो मे अधिकोषण व्यवसाय के लिए लाभदायक होने पर ही व्यापारिक अधिकोषो को हतोत्साहित करने की दृष्टि से हो सकता है।

रिज़र्व बैंक की अधिकोष दर और विवृत विपणि क्रिया के प्रभावशील न हो सकने के सम्बन्ध मे कुछ और भी ऐसी कठिनाइयाँ थी जिन्होंने उसके इन कार्यो मे बाधा पहुँचायी। उदाहरणस्वरूप देश मे विभिन्न ब्याज दरो का प्रचलित होना, अनियत्रित स्वदेशी बैंकरो और असगठित मुद्रा-मण्डियो का होना। वास्तविकता यह है कि रिजर्व बैंक ने अपने थोडे से तालिकाबद्ध अधिकोषो के भरोसे ही सम्पूर्ण देश की साख व्यवस्था को सगठित करने का प्रयास किया किन्तु यह उसके लिए उपयोगी न सिद्ध हुआ। उसे चाहिए यह कि अपने विधान की ४२वी धारा को कुछ ढीली कर दे ताकि देश के अधिक-से-अधिक अधिकोष उसकी तालिका मे प्रवेश पा सके। इतना तो निस्सन्देह स्वीकार करना पडेगा कि उपर्युक्त अनेक कठिनाइयो के होते हुए भी रिजर्व बैंक ने मुद्रा-मण्डी पर नियन्त्रण स्थापित कर सकने मे अधिक सफलता पायी है, क्योकि प्रति वर्ष बदलने वाली ब्याज दर को कई वर्षो तक एक समान बनाये रखा, जिससे मुद्रा मण्डी पर भी अच्छा प्रभाव पडा। मुद्रा-मण्डी मे प्रचलित ब्याज दरो की विभिन्नता मे कमी तो आयी ही, साथ ही मुद्रा-मण्डी मे प्रचलित ब्याज की दर भी नीची हो गयी। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारो के लिए सस्ती दर पर जन-ऋण प्राप्त किया तथा आवश्यकता पडने पर सरकार को उचित आर्थिक सलाह भी दी। रिजर्व बैंक ने देश मे अधिकोषण की सुविधाएँ भी बढाने का प्रयास किया। रिजर्व बैंक के प्रयास का ही परिणाम है कि आज बम्बई और कलकत्ता की मुद्रा-मण्डियो मे प्रचलित ब्याज दरो मे बहुत कुछ समता आ गयी है।

हाँ, यह सत्य है कि रिजर्व बैंक न तो बिल बाजार को विकसित एव सगठित कर सका और न तो स्वदेशी बैंको को अपने नियन्त्रण मे ला सका। पर इस दोष के लिए केवल रिजर्व बैंक को भागी नही बनाया जा

सकता। इसी प्रकार मुद्रा-स्फीति लाने का दोष भी केवल रिजर्व बैंक पर ही लगाना ठीक नही जँचता है। यह तो सरकार की कार्य-प्रणाली का दोष रहा है। यह सहर्ष स्वीकार करना होगा कि रिजर्व बैंक ने देश की अधिकोषण व्यवस्था मे महत्वपूर्ण योग दिया है। फिर इसका राष्ट्रीयकरण हो जाने तथा अधिकोषण प्रमण्डल विधान बन जाने के पश्चात् इसके कार्य और भी सराहनीय पथ पर अग्रसर हो गये है।

वर्तमान समय मे रिजर्व बैंक तथा मुद्रा मण्डी के बीच स्टेट बैंक की स्थिति एक खाई के समान हो गयी है। परन्तु निम्न दो कारणो से स्टेट बैंक के द्वारा किये जाने वाले रिजर्व बैंक के कार्यो मे कोई बाधा नही पडती—

(१) स्टेट बैंक और रिजर्व बैंक के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित है।

(२) यह बडी ही प्रशसनीय बात है कि जब भी कठिनाइयो के समय रिजर्व बैंक मुद्रा एव साख प्रचलन करता है उस समय स्टेट बैंक थोक व्यापारी के रूप मे सदस्य अधिकोषो तक तथा फुटकर व्यापारी के रूप मे जनता तक उन रुपयो तथा साख को पहुँचाने का कार्य करता है।

यद्यपि रिजर्व बैंक के सदस्य अधिकोष उसी मे ऋण ले सकते है फिर भी वे स्टेट बैंक से ही सहायता लेना अधिक पसन्द करते है, इसके निम्न कारण है—

(१) साख के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक की शर्ते बहुत कठोर है किन्तु स्टेट बैंक तो ऋण माँगने वाले अधिकोष की आर्थिक स्थिति से सतुष्ट हो जाने पर बिना किसी परेशानी के ही ऋण प्रदान कर देता है।

(२) रिजर्व बैंक के सदस्य अधिकोषो का स्टेट बैंक से पुराना सबन्ध रहा है और दोनो एक-दूसरे से भली भाँति परिचित रहे है।

(३) मुद्रा बाजार की परिस्थितियो का तथा उनके उतार-चढाव का प्रभाव स्टेट बैंक को अन्य बैंको की ही भाति निभाना पडता है। अतः इन परिस्थितियो के प्रभाव को कम करने के लिए स्टेट बैंक अन्य बैंको को ऋण देने के लिए तत्पर रहता है।

अध्याय ५

द्वितीय महायुद्ध के बाद बैंकिग का विकास

मन्दी के समय भारतीय बैंक व्यवस्था काफी सुदृढ हो गयी तथा मजोर और अव्यवस्थित बैंक दिवालिया हो गये। किन्तु बडे-बडे बैंको ा शाखाओ मे वृद्धि होने के कारण व्यापार मे बैंको की आर्थिक सहायता ढती ही गयी। इन्ही दिनो सहकारी बैंक, भूमि बधक बैंक तथा पोस्टल विग बैंक दृढतर हो गये तथा इनके कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक हो गये। जर्व बैंक की सहायता से देहाती क्षेत्रो मे बैंकिग सुविधाएँ अधिक हो गी। जून १९३८ मे दक्षिण भारत के बैंको पर सकट आया और कई क बन्द हो गये। परन्तु रिजर्व बैंक द्वारा सामयिक सहायता ऋण के रूप देने से अन्य बैंक सफलता पूर्वक कार्य करते रहे। सयुक्त पूँजी वाले बैंको खातो को अलग-अलग चालू खाता, मुद्दती खाता, विनिमय, हुण्डियाँ, थर पूँजी इत्यादि-इत्यादि खातो मे अलग-अलग रखने की व्यवस्था ो योजना का समुचित आदान-प्रदान बनाये रखने के लिए और इनमे न्दी का प्रभाव कम करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने कई प्रकार के बाड ारी किये। इन सब उपायो से रिजर्व बैंक ने भारतीय बैंक प्रणाली को कट काल से बचाने मे बडी सहायता की।

सन् १९३९ मे द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया, जिससे ससार के सभी श अपनी आर्थिक स्थिति युद्ध के काल की उत्पन्न समस्याओ के समाधान अनुरूप बनाने का प्रयत्न करने लगे। युद्ध ने देश के आर्थिक स्त्रोतो को, उस समय शान्ति की तरफ लगे थे, युद्ध की तरफ मोड दिया। १९३८-९ व १९४२-४३ के बीच युद्ध पर खच पहले की अपेक्षा निम्नोक्त देशो आगे दी हुई गति से बढा। अमेरिका मे नौगुना, ब्रिटेन मे पॉच गुना, नाडा मे सात गुना, आस्ट्रेलिया मे पॉच गुने व छ गुने के बीच जापान तीन गुना। अमेरिका व ब्रिटेन मे सन् १९४२-४३ मे सुरक्षा पर व्यय

कुल व्यय का ९० प्रतिशत हुआ, तथा कनाडा और जापान मे ७५ से ८० प्रतिशत तक व्यय हुआ। भारत मे १९३९–४० व १९४५–४६ मे युद्ध पर व्यय ३,४८४ करोड रु० हुआ जिसमे भारत का हिस्सा १७४४ करोड, ५० प्रतिशत रहा। इस समय के बीच भारत का सभी खर्च जिसमे युद्ध के व्यय व अन्य व्यय भी सम्मलित है, ३९९६ करोड रुपये का हुआ, जिसमे से १४६२ करोड रु० या ३७ प्रतिशत व्यय सरकारी आय से किया गया, शेष कुछ तो पौड पावने से किया गया तथा कुछ भारतीय लोक-ऋण लेकर पूरा किया गया, जिससे भारतीय लोक-अश १९४५–४६ मे १०७७ करोड रुपये से ज्यादा बढ गया। युद्ध की प्रारम्भिक अवस्था से ही उसकी सहायता के लिए भारत का महत्व माना गया, क्योकि युद्ध की सफलता के लिए यहाँ से सभी उपयोग के सामान आसानी से तैयार करके भेजे जा सकते थे। यहाँ के उद्योगो ने युद्ध के आवश्यक सभी सामान बनाने शुरू कर दिये तथा भारत के युद्ध-जनित व्यय मे आशातीत वृद्धि हुई—कुछ तो स्वय के युद्ध-व्यय पर तथा कुछ अपने मित्र राष्ट्रो के लिए सहायता के रूप मे। इसका स्वाभाविक प्रभाव यह हुआ कि मुद्रा मे लगातार तीव्र गति से वृद्धि होने लगी क्योकि इतनी बडी पूँजी की माँग ऋण से पूरी नही हो पाती थी। यह मुद्रास्फीति के कारण की 'विशेषता केवल भारत के लिए ही नही थी बल्कि ससार के सभी देशो मे यही स्थिति थी। पर यह तो कहा ही जा सकता है कि प्रथम महायुद्ध की अपेक्षा द्वितीय महायुद्ध मे मुद्रा-प्रसार विवेकपूर्ण ढग से हुआ।

आर्थिक समझौते के अनुसार भारत मे होनेवाली युद्ध की सभी वित्तीय व्यवस्था का भार भारत सरकार पर आ गया, जिसे वह रुपये द्वारा पूरा करती थी। युद्ध कार्यो का सभी व्यय भारत सरकार देती थी। इस बात का ख्याल नही रखा जाता था कि व्यय का भार अन्य देशो पर कितना है, कितना नही। वास्तव मे भारत सरकार भारतीय मुद्रा मे जब पूरा भुगतान कर देती थी तब बाद मे ब्रिटिश सरकार व्यय का कुछ भाग भारतीय सरकार को देती थी। यद्यपि इन आर्थिक अनुबन्धो का प्रमुख उद्देश्य भारत के आर्थिक दायित्वो को सीमित करना था पर जैसे-जैसे पूर्वी

देशो मे युद्ध का विस्तार होता गया, भारतवर्ष एक मात्र युद्ध सामग्रियो की पूर्ति करने वाला देश होता गया। ब्रिटिश सरकार ने भारत पर इस प्रकार अत्यन्त अवाछनीय भार लाद दिया तथा यहाँ से असीमित मात्रा मे वस्तुओ का क्रय करना प्रारम्भ कर दिया और उनके भुगतान के लिए भारतीय सरकार को असीमित मात्रा मे नये नोट जारी करने का आदेश दे दिया। यद्यपि इनके पीछे स्टर्लिंग सिक्यूरिटियो का पूरा-पूरा सहयोग था पर चूँकि ये प्रतिभूतिया युद्ध के कारण पूर्ण रूप से बन्द थी अत मुद्रा-प्रसार होना स्वाभाविक हो गया तथा मुद्रा की क्रयशक्ति घटने लगी।

मुद्रा चलन की वृद्धि को हम निम्न तालिका के द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से देख सकते है।

वर्ष	छापे गये नोट करोड रु मे	चलार्थ नोट करोड रु मे
१९३८—३९	२१० ६४	१८२ ३६
१९३९—४०	२२८ ०१	२०९ २२
१९४०—४१	२५८ ६७	२४१ ४१
१९४१—४२	३१९ ८९	३०७ ६८
१९४२—४३	५२५ २४	५१३ ४४
१९४३—४४	७८७ ६७	७७७ १७
१९४४—४५	९७९ ६२	९६८ ६९
१९४५—४६	११७९ ०५	११६२ ६४

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट प्रकट हो रहा है कि मार्च १९४२ के बाद मुद्रा के चलन के परिमाण मे तीव्र गति से वृद्धि हुई। ऊपर की तालिका मे धातविक मुद्रा को नही दिखाया गया है अन्यथा मुद्रा-प्रसार की मात्रा कही और अधिक हो जाती।

इस युद्ध-कालीन मुद्रा-प्रसार का प्रभाव भारतीय बैको पर कई प्रकार से पडा। वास्तव मे ससार के इतिहास मे इस समय का काफी महत्व है, क्योकि अन्य दिशाओ मे उन्नति के साथ ही साथ बैंको की भी बहुमुखी प्रगति हुई। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के पहले से भी भारतीय सयुक्त-स्कन्ध बैक उन्नति कर रहे थे, तो भी इस युद्ध-कालीन परिस्थिति के कारण इनका विकास विभिन्न दृष्टियो से हुआ।

बैको की जमा मे जो अभूतपूर्व वृद्धि हुई उसका प्रमुख कारण मुद्रा का प्रसार है जो स्टर्लिंग के आधार पर हुआ, क्योकि भारतीय सरकार को युद्ध सम्बन्धी आर्थिक सहायता के लिए बहुत व्यय करना पडता था, कुछ अपने लिए तथा कुछ ब्रिटिश सरकार के लिए।

सन् १९३९ के आगे न केवल भारत मे बल्कि ससार के अन्य बैको की जमा मे भी वृद्धि हुई, जैसा कि निम्न तालिका से मालूम होगा।

युद्ध कालीन बैंको की जमा मे वृद्धि (राष्ट्रीय मुद्रा १० लाख मे)

देश	१९३९	१९४०	१९४१	१९४२	१९४३	१९४४
इग्लैण्ड	२४४१	२८००	३३२९	३६२९	४०३२	४५४५
अमेरिका	—	५६४३०	६१७१७	७८२७७	१२२६२	११०२७१
आस्ट्रेलिया	३३० ७	३५९ २	३७९ ३	४१९ ४	४८८ ०	५३५ १
कनाडा	३२४८	३२०९	३५६६	४२०२	५०४९	५४५८
जर्मनी	७५९६	१०४१७	१३२२१	१५४०१	१८२४४	—
जापान	१९७९४	२४३८९	२९४०६	३५७३८	४३१३२	४७२२९

उपर्युक्त जमा वृद्धि के कई कारण है, जैसे राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि, राष्ट्रीय आय मे वृद्धि, जनता की मुद्रा, तरलता की प्रधानता, सरकारी हीनार्थ प्रबन्धन, बैंको द्वारा सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय आदि।

उपर्युक्त सारणी से यह भी ज्ञात होता है कि भारत की अपेक्षा अन्य देशो, जैसे ब्रिटेन, अमेरिका व कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के बैंको की जमा मे अधिक वृद्धि हुई। दूसरी प्रमुख विशेषता इस समय की जमा की यह थी कि सम्पूर्ण जमा का अधिकाश भाग सूची-बद्ध बैंको के पास था, विशेष कर बडे बैंको के पास। उदाहरण के लिए इम्पीरियल बैंक के पास १९४५ मे २६० करोड रु० जमा थी जब कि कुल जमा ९५३ करोड रु० थी। उसी समय विनिमय बैंको के पास १७९ करोड रु० की जमा थी। केवल थोडा सा बाकी हिस्सा अन्य छोटे बैंको के पास था। ऊपर की तालिका मे जमा के जो अक दिये हुए है उनके विवेचन से यह ज्ञात होता है कि १९३९–४५ के बीच निश्चित जमा मे (जो कुल जमा का यह आधार था) ह्रास होकर वह चौथाई से भी कम हो गयी और इस प्रकार चालू खाते की अपेक्षा इसमे बहुत धीमी गति से वृद्धि हुई। प्रथम तीन वर्षों मे तो निश्चित जमा मे बहुत ही कम वृद्धि हुई। केवल अक्तूबर १९३४ से मार्च १९४५ तक कुछ प्रगति हुई, जब कि चालू खाते का निर्देशाक ३५८ से ४६५ तक बढ गया। पर समय-दायित्व १२७ से २०४ तक ही बढ पाया। यह प्रवृत्ति प्रथम महायुद्ध की प्रवृत्ति के ठीक विपरीत थी जब कि उस समय निश्चित जमा ऊची दर से बढी थी।

उपर्युक्त दशा द्वितीय महायुद्ध तक चालू रही जिसके कई कारण है। प्रथम तो मदी काल मे बैंको के प्रति शका हो गयी थी। युद्ध के कारण यह शका और बलवती हो गयी। लोग अधिक दिनो के लिए बैंक मे जमा करने से डरते थे, इसके अतिरिक्त उस पर सूद की दर भी कम थी। अत वे अपनी जमा चालू खाते मे ही जमा करना पसन्द करने लगे। अनिश्चितता की आशका व असामान्य काल की दशाएँ भी इसके महत्वपूर्ण कारण हैं। सरकार युद्ध के लिए जो क्रय करती थी उसके

भुगतान का ढग भी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता था, क्योकि सरकार उसका भुगतान किश्तो मे करती थी, तथा कभी कभी अनुबन्धन के आधार-पूण होने पर, जिससे व्यापारियो को बराबर बैंको से जमा निकालनी पडती थी। मुद्रास्फीति व मूल्यो के बराबर उतार-चढाव के कारण लोग अपनी बचत को स्थायी सम्पत्ति के रूप मे बदलना नही चाहते थे, क्योकि उनका अनुमान था कि युद्ध की समाप्ति के साथ ही पुन मूल्यो मे कमी आ जायगी। नवीन औद्योगिक उपकरणो की कमी के कारण भी निर्माता अपनी कार्यशील पूँजी बढाते गये, जिससे उपलब्ध मशीनो से अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके। पर जो अनुसूचित बैंक नही थे उनके बारे मे यह धारणा गलत सिद्ध हुई। उनकी निश्चित जमा मे चालू खाते की अपेक्षा वृद्धि ऊची दर से हुई। अभियाचन देय-धन इन चार सालो मे ४ ८७ करोड से १७ ५२ करोड हो गया, जब कि समय-जमा खाते मे ११ ०९ करोड रु० से १७ २७ करोड रु० तक की वृद्धि हुई। इस असमानता का प्रमुख कारण यह था कि जो अनुसूचित बैंक नही थे उनके ग्राहक अपेक्षाकृत अल्प आय वाले होते थे, जो सूद पर अधिक ध्यान देते थे, क्योकि ये बैंक समय-जमा पर ऊची दर से सूद देते थे।

जैसे-जैसे चालू खाते मे जमा की रकम बढती गयी बैंको के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपनी नकद की स्थिति सुदृढ बनायें, जिससे वे अपने माग-दायित्व को किसी भी समयपूरा कर सके। सामान्य नकद जमा का, जिसमे रिजर्व बैंक के यहा का बाकी भी सम्मिलित है, १९३८-३९ मे २२ ५८ करोड पर ९ ५० प्रतिशत कुल दायित्व था। वह बढकर १९४२–४३ तक ६८–७० करोड कुल दायित्व का १६ ७३ प्रतिशत हो गया। सभी बैंक बडी आसानी से अपनी माग के दायित्व को पूरा कर सकते थे। निम्न वार्षिक आकडो से यह और स्पष्ट हो जायगा।

वर्ष	कुल नकद और जमा राशि, करोड रु० मे	प्रतिशत दायित्व
१९३८—३९	२२ ५८	९ ५०
१९३९—४०	२४ ५१	९ ९८
१९४०—४१	४४ ७९	१६ ६६
१९४१—४२	४६ ५१	१४ ५८
१९४२—४३	६८ ७०	१६ ७३
१९४३—४४	८४ २०	१४.०५
१९४४—४५	११६ ५६	१४ ९६

पर हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि नकद जमा का रखना उस समय परम आवश्यक था, क्योकि प्रथम महायुद्ध मे इसके अभाव के कारण बैंको को बहुत कठिनाई पडी। दूसरे, अनुसूचित बैंको की रिजर्व, बैंक के पास जमा रखने की न्यूनतम जमा की रकम भी निर्धारित कर दी गयी थी। अनुसूचित बैंको ने भी अपनी नकद जमा की स्थिति को सुधारा। १९३९ मे कुल दायित्व का केवल ९ ८ प्रतिशत था जब कि १९४३ तक वह बढकर १४ प्रतिशत हो गया।

भारत मे बैंको की तरल सम्पत्ति मे नकद रकम, स्वतन्त्र विनियोग व विपत्र सम्मिलित है। इनका अनुपात कुल जमा का १९३९ मे ५६ प्रतिशत था पर १९४३ तक वह बढकर ७५ प्रतिशत हो गया।

बैंको की जमा की उत्तरोत्तर वृद्धि का अन्य प्रभाव यह हुआ कि उनकी जमा के अनुपात की अपेक्षा चुकता पूंजी का प्रतिशत धीरे-धीरे कम होता गया। १९३९ मे अनुसूचित बैंको की चुकता पूंजी कुल जमा का १३ १% थी पर वही १९४४–४५ मे घटकर ६ १% हो गयी

तथा अनुसूचित बैंको की भी पूंजी २५ प्रतिशत से घटकर १९४५ मे ११ प्रतिशत तक आ गयी। यह अनुपात तो अनुसूचित बैंको का और कम होता, पर कुछ बैंको की स्थापना से रुक गया, जैसे—भारत बैंक, दी हिन्दुस्तान कर्माशियल बैंक लि०, दी युनाइटेड कर्माशियल बैंक लि०। ये सभी बैंक एक करोड या इससे कुछ अधिक पूँजी से खुले। वास्तव मे देखा जाय तो बैंकिग कम्पनिम्रो की चुकता पूंजी व रक्षित पूँजी इसलिए रखी जाती है कि बैंक के विघटन होने पर जमा करने वालो के हित की रक्षा हो। सामान्यत चुकता पूंजी व सचित की मात्रा जमा की रकम पर निभर न होकर अपने ही स्वभाव व गुण की इस बात की द्योतक होती है कि बैंक उचित मात्रा मे जमा आकर्षित करने मे असमर्थ है। जमा करने वालो की सुरक्षा के हेतु कम पूंजी व सचित रखकर भी काम चलाया जा सकता है, पर ऐसी अवस्था मे उसे पूर्ण रूप से तरल रखना पडेगा। इसलिए उस समय भारत सरकार की आज्ञा लेकर कुछ बैंको ने नये अशपत्र जारी किये। सेन्ट्रल बैंक आफ इडिया जैसे पुराने बैंको ने तो प्रीमियम पर अशपत्र जारी कर इस कमी को पूरा किया।

बैंको को अपनी साधन-सामग्री तरल रखने के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने पास नकद की मात्रा बढाये या सरकारी प्रतिभूतियो मे कम ब्याज की दर पर विनियोग करे। बैंको ने थोडी अवधि के लिए उद्योग व व्यापार मे रुपया लगाने के स्थान पर सरकारी प्रतिभूतियो मे दीर्घकालीन विनियोजन करना शुरू कर दिया। निम्न तालिका से बैंको कै विनियोग की प्रकृति स्पष्ट हो जायगी।

भारतीय संयुक्त स्कन्ध धनाधारो का विनियोग, लाख रुपयो में

बैंक	१९३८	१९३९	१९४०	१९४१	१९४२	१९४३	१९४४	१९४५
इम्पीरियल बैंक	४३,७२	३८,०२	४८,५७	६४,३९	११६,४१	१३०,२०	१४८,६३	१५४,१८
अनुसूचित बैंक	४०,२४	३६,५१	४२,४५	५८,५२	१०१,७७	१६७,०३	२३२,०८	२७९,०३
नानुसूचित बैंक	३,४१	४,५९	४,८३	५,८०	८,३२	१०,०४	१६,५६	२९,७९

उपर्युक्त आकडो को देखने से यह पता चलता है कि बैको के विनियोग मे बराबर एक गति से वृद्धि होती चली गयी। सूची-बद्ध बैंक तो अपनी सम्पत्ति का करीब ६० प्रतिशत भाग सरकारी प्रतिभूतियो मे लगाते थे तथा इम्पीरियल बैक इससे भी ज्यादा सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग करता था। फिर भी यह अवस्था अधिक दिनो तक न रह सकी। जमा की गति तीव्रगति से बढने लगी तथा विनियोग का अनुपात जमा की अपेक्षा तेजी से घटने लगा। १९४२ मे जो ५९ ३ प्रतिशत था वही १९४३ मे ५३ प्रतिशत रह गया। साराश मे हम कह सकते है कि युद्ध के वर्षो मे अग्रिम की मात्रा कम हुई तथा दूसरा प्रभाव यह हुआ कि सरकारी प्रतिभूतियो मे बैको का विनियोग बढा।

बैको के आर्थिक चिट्ठे मे सरकारी प्रतिभूतियो का आधिक्य इस बात का द्योतक है कि सरकार की ऋण लेने की क्षमता अच्छी थी। भारत सरकार स्वय देश की सब से अधिक ऋण लेने वाली व कर्जदार सस्था हो गयी, विशेष कर बैको की तो और अधिक। इस प्रकार उस का नियत्रण भी अधिक होना स्वाभाविक हो गया। मुख्यत बैको को अपनी बढती हुई जमा का विनियोग करने के लिए इसी पर निर्भर रहना पडता था, इसी के ऊपर इनकी सफलता भी निर्भर थी।

यह स्वाभाविक है कि जब विनियोग के माध्यम व विपत्र (बिल) भुनाने के क्षेत्र सीमित हो तो लाभ की न्यून ही आशा रहती है, पर अनुभव इसके विपरीत है। बहुत से बैको ने अच्छा लाभ कमाया व ऊँची दर पर लाभाश वितरण किये। मुख्य बैको के लाभाश की दर निम्नलिखित है।

प्रति शेयर पर बाटा या दिया हुआ प्रतिशत धन

	१९३९	१९४२	१९४३	१९४५
इम्पीरियल बैंक	१२	१२	१२	१४
बैंक आफ इण्डिया	११	१२	१२	१३
सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया	—	१२	१२	१४
पजाब नेशनल बैंक	—	६	६	९
दि इण्डिया बैंक	—	१०	१२	१४
इलाहाबाद बैंक	—	१८	१८	—

यह ऊपर से देखने मे तो बहुत आश्चयजनक है पर अगर ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि बैंको के जमा धन मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई, विशेष कर चालू खाते मे, और चालू खाते पर बहुत कम दर से सूद नाम मात्र को दिया जाता है। फिर बैंक उसका जो विनियोग करते थे उस पर सूद ऊची दर से मिलता था, जिसमे वे ऊँची दर पर लाभाश वितरण मे समर्थ हो सके। दूसरा प्रमुख कारण यह है कि पूरे युद्ध-काल तक बैंको का अतिरिक्त व्यय कम हुआ, क्योकि बैंक कर्मचारियो का वेतन बहुत ही कम रहा। फिर भी यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि जिस गति से बैंको के साधन मे वृद्धि हुई उस गति से वे लाभ न पा सके, जिस का प्रमुख कारण यह है कि विनियोग के क्षेत्र की भी सरकारी प्रतिभूतियो पर कम ब्याज व बैंको के स्थापनव्यय अधिक हो गये, विशेष कर उन बैंको के लिए जो निरपेक्ष रूप से शाखाएँ खोलने के पक्ष मे थे।

बैंकिंग सस्थाओ का विकास—अन्य स्वाभाविक युद्ध-काल की परिस्थिति का यह प्रभाव हुआ कि नयी-नयी बैंकिंग सस्थाओ की स्थापना हुई। १९३९ से ४१ के बीच तो इनका कम विकास हुआ पर १९४२–४६ के बीच बहुत तीव्र गति से वृद्धि हुई। १९३९ मे सूची-बद्ध बैंको की सख्या ६१ थी जो १९४६ के जून तक ९३ हो गयी। इसमे इम्पीरियल बैंक के विनिमय बैंक भी सम्मिलित हैं और उनके दफ्तरों

की सख्या १९४६ मे १२७८ से ३४८० हो गयी, जब कि अनुसूचित बैंको की सख्या १९४६ मे ६७३ से २०४१ हो गयी।

बैंकिग सस्थाओ के इस तीव्र गति से विकास का कारण यह है कि भारत जैसे विशाल देश मे बैंकिग के विकास के लिए अधिक क्षेत्र है और सरकार की उदार व्यय नीति ने तो विनियोग करने लिए तमाम साधन उपलब्ध कर दिये। सरकार की व्यय नीति से जो अपरम्पार द्रव्य बाजार मे आ गया उससे अन्य नया कोई उद्योग तो खोला नही जा सका, कारण कि मशीनो का आयात बिलकुल बन्द हो गया। देश मे नये बैंको की स्थापना आसानी से की जा सकती थी। युद्ध के समय निम्न मुख्य बैंको की स्थापना हुई--बैंक आफ बीकानेर १९४४, बैंक आफ जयपुर १९४३, भारत बैंक १९४२, हिन्दुस्तान कर्मशियल बैंक १९४४, जोधपुर कर्मशियल बैंक १९४४, नारग बैंक आफ इण्डिया १९४२, नेशनल बैंक आफ लाहौर १९४३, प्रताप बैंक १९४४, प्रभात बैंक १९४४, युनाइटेड कर्मशियल बैंक १९४३, युनाइटेड इन्डस्ट्रीयल बैंक १९४० एव युनाइटेड सिंध और पजाब बैंक १९४५। ये सभी बैंक भारत बैंक की स्थापना के बाद खुले जो सन् १९४२ मे सेठ डालमिया द्वारा खोला गया था। सब से बडा सफल व विस्तृत बैंक युनाइटेड कर्मशियल बैंक रहा जो सेठ बिरला द्वारा खोला गया था। छोटे छोटे बैंको की तो कोई सीमा न रही। बगाल और पजाब मे सबसे अधिक बैंक खुले। अगर भारतीय सरकार का १९४३ का अध्यादेश लागू न हुआ होता तो और बैंक खुलते पर इसके द्वारा पूँजी निर्गमित होने पर रोक लगा दी गयी। बैंको की अधिकृत पू जी के अनुपात मे काफी अतर रहा। इन दिनो कुछ बैंक एक लाख की पू जी से २० करोड तक की अधिकृत पू जी द्वारा खोले गये। फिर भी हम यह तो कहेगे कि बैंको का विकास अव्यवस्थित रूप से हुआ। जैसे कुछ स्थानो पर जहाँ पहले से बैंक थे वहा नयी-नयी शाखाएँ खोली गयी तथा जहाँ पहले से कोई बैंकिग सुविधा उपलब्ध न थी वहाँ कोई बैंक नही खोला गया। इससे बैंको मे अवाछनीय प्रतिस्पर्धा ने जन्म लिया।

सामान्यत यह कहा जा सकता है कि गुण-ग्राहकता की अपेक्षा बैंको की सख्या मे ही वृद्धि हुई और सभी बैंको ने कुशल कर्मचारियो की आवश्यकता का अनुभव किया । कुछ बैंको ने तो पुराने बैंकिग कर्मचारियो को अपने यहाँ अधिक वेतन पर रख लिया ।

युद्ध-कालीन अवाछनीय दशाए—युद्ध के समय मे भारतीय बैंकिग हमारे सामने उत्साहवर्धक व स्वस्थ उदाहरण प्रस्तुत करता है । फिर भी यह समस्त दोषो से मुक्त भी नही है। कुछ दोष तो युद्ध के समय ही दृष्टिगोचर होने लगे थे, पर उन्हे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने अपने तत्कालीन प्रयत्न से रोक दिया । उन्ही दिनो कुछ नये बैंको ने अवाछनीय रीतियाँ अपनाकर अपनी पूजी का ढाँचा खडा किया था तथा प्रबन्ध-सचालको से कुछ शर्ते तय की थी जो स्वस्थ बैंकिग के दृष्टिकोण से भ्रमात्मक थी । इण्डियन कम्पनीज ऐक्ट मे सशोधन करके यह दोष दूर कर दिया गया, इससे अधिकृत पूँजी तथा निर्गमित व चुकता पँजी मे अधिक अन्तर नही किया जा सकता था तथा ऐसे अश-पत्रो के निर्गमन पर भी रोक लगा दी गयी जिनसे असमान मताधिकार प्राप्त होता था । उद्देश्य यह था कि बैंको का नियत्रण एव प्रबन्ध कुछ ही लोगो के हाथ मे न रह सके । बैंको के अतिरिक्त और किसी को प्रबन्ध-अभिकर्ता नही बनाया जा सकता, यह बन्द कर दिया गया तथा उन्हे जो ऊचा-ऊचा पारिश्रमिक मिलता था, वह भी सीमित कर दिया गया, जो केवल शुद्ध लाभ मे से ही देय था । उनकी नियुक्ति की अधिकतम सीमा २० वर्ष कर दी गयी । पर ये नियम बडे बैंको के जनरल मैनेजर पर व प्रमुख अभिकर्ताओ पर ही, जो प्रबन्ध-अभिकर्ता द्वारा नियुक्त थे, लागू होते थे ।

इसके अतिरिक्त कुछ और दोष भी पाये गये । जैसे कुछ बैंको ने गैर बैंकिग कम्पनियो पर नियत्रण पाने के लिए उनके अश असीमित मात्रा मे खरीदना शुरू कर दिया, बिना इस बात का विचार किये कि उनकी स्थिति कैसी है एव उनका मूल्य क्या है । इस प्रकार जनता के जमा धन का वे अवाछनीय रूप से उपयोग करने लगे जो बैंक के

मूलभूत सिद्धान्त सुरक्षा, लाभ व तरलता से बिलकुल विपरीत है।

बैको ने नयी शाखाए खोलने मे भी अपनी सूझ-बूझ का परिचय नही दिया, जहाँ पहले से बैंकिग की सुविधाएँ प्राप्त थी वही पर शाखाएँ खोली तथा अवाछनीय प्रतिस्पर्धा मोल ली और इस प्रकार जनता की जमा आकर्षित करने के लिए ऊँची दर पर ब्याज देना प्रारम्भ कर दिया। जमा को अधिक लाभप्रद बनाने के लिए वे अग्रिम बहुत उदारता से देने लगे तथा उन्होने ग्राहको को सट्टे आदि के लिए भी उधार देना शुरू कर दिया जिससे उन्हे अधिक लाभ हो, साथ ही सभी शाखाओ का व्यय मुख्य दफ्तर को ही सहन करना पडता था तथा उन्हे उचित कुशलता से चलाने के लिए मुख्य दफ्तर को अपना व्यय करके कुशल कर्मचारियो को रखना पडता था।

बैंक अपनी आर्थिक स्थिति को ऊपरी साज-सज्जा से छिपाने लगे जिससे उनकी वास्तविक स्थिति, रोकड का ज्ञान अशधारियो को नही रहता था। कुछ बैंक अपनी अप्रत्याशित आय से, जो कभी-कभी उन्हे सट्टे आदि के व्यापार से प्राप्त हो जाती थी, अपनी आर्थिक दशा सुदृढ न करके लाभाश के रूप मे उसे वितरित कर देते थे।

अगर हम युद्ध के पहले की दशाओ से युद्धकालीन दशाओ की तुलना करे तो पता चलता है कि ये सभी लक्षण नये नही थे बल्कि थोडे बहुत अश मे पहले भी मौजूद थे। उस समय बहुत से ऐसे बैंक थे जो अपर्याप्त पू जी व सचय से काम कर रहे थे, जिन्हे बहुत ही कठिनाइयो का सामना करना पडता था। जैसे जमा को आकृष्ट करने के लिए उन्हे ऊची दर पर ब्याज देना पडता था जिसके लिए उन्हे जमा को जोखिम के काम मे लगाने के लिए मजबूर होना पडता था। जमा प्राप्त करने के लिए वे दूर दूर शाखाएँ खोलते थे जिससे उन्हे बडे बैंको की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पडता था। साधन-हीन होने के कारण वे योग्य तथा कुशल कर्मचारियो को नियुक्त भी नही कर सकते थे।

उपर्युक्त बाते ऐसी हैं जो कि सामान्यत उन सस्थाओ के सामने आती ही है जिनके पास साधन है तथा जो बडे पैमाने पर काम करना

चाहते है। इसमे कोई शक नही कि छोटे बैंको का हमारे समाज मे बहुत महत्व है बशर्ते वे अपना कार्य-क्षेत्र सीमित पर गहरा रखे।

बैको का राष्ट्रीयकरण—द्वितीय महायुद्ध के बाद बढती हुई आर्थिक उन्नति के लिए केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के विषय मे निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाने लगे तथा राष्ट्रीयकरण की नीति को प्रोत्साहन दिया जाने लगा।

(१) द्वितीय महायुद्ध के बाद सभी देशो ने अपने-अपने केन्द्रीय बैंको पर विभिन्न रूप से नियत्रण रखना शुरू किया तथा इनका सचालन सदैव देश की समृद्धि के लिए किया गया जिससे राष्ट्रीयकरण के लाभ स्वत प्रकट होने लगे ।

(२) महायुद्ध के बाद से कई देशो ने योजनाओ को कार्यान्वित कर रखा था तथा उनकी नियोजित नीतियो को कार्यान्वित करने के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने देश के केन्द्रीय बैंक पर आवश्यक नियत्रण रखे।

(३) हीनार्थ प्रबन्धन (डेफिसिट फाइनेसिग) को आजकल पूर्ण-वृत्ति रोजगारी के लिए बहुत आवश्यक मान लिया गया है। इस रीति का मुख्य उद्देश्य सूद की दर को कम व स्थिर रखना है जिसको प्राप्त करने के लिए सुव्यवस्थित बैकिग नीति अति आवश्यक है। अगर सूद की दर बढने दी गयी तो सरकार की व्यक्तिगत विनियोग की वृद्धि की नीति सफल न हो सकेगी तथा रोजगार की वृद्धि भी नही हो पायेगी। इसलिए सरकार का नियत्रण केन्द्रीय बैंक पर राष्ट्रीयकरण के रूप मे होना चाहिए।

(४) युद्धोत्तर काल मे कुछ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सस्थाओ की स्थापना हुई है। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष व अन्तर्राष्ट्रीय बैंक जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर स्थापित हुए है और जिनका ध्येय देशो मे शान्ति व आर्थिक प्रगति की सुविधा प्रदान करना है। चूकि इनकी स्थापना सभी देशो की सहमति से हुई है अत केन्द्रीय बैंक ही केवल अपने देश के प्रतिनिधि के रूप मे इनका कार्य कर सकता है, अत सरकारी काम करने के लिए यह आवश्यक समझा जाने लगा कि केन्द्रीय बैंक का देश के हित मे राष्ट्रीयकरण किया जाय ।

(५) बहुत से देशो ने द्वितीय महायुद्ध के बाद से अपने यहाँ के आधारभूत उद्योगो का राष्ट्रीयकरण करना शुरू कर दिया है, जैसे खान, यातायात व बैंक। क्योकि उनका सामाजिकीकरण नियोजित आर्थिक विकास के लिए आवश्यक माना जाने लगा है।

(६) अत मे इस पुरानी विचार-धारा का अब अन्त हो गया है कि अर्थ-व्यवस्था को राजनीति से सर्वदा दूर रहना चाहिए। यह आजकल न सभव है और न वाछनीय। राष्ट्रीयकरण से देश का अधिक कल्याण हो सकता है।

रिजर्व बैंक आफ] इण्डिया का राष्ट्रीयकरण—वास्तव मे केन्द्रीय बैंक की स्थापना की आवश्यकता और आशा भारत मे बहुत पहले से की जाती थी तथा जब रिजर्व बैंक की स्थापना हुई, यह प्रश्न उठा कि इस पर नियत्रण सरकार का होगा कि अशधारियो का ? पर जैसा कि पहले हम देख चुके है उस समय राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते थे तथा उस समय ससार मे केवल ग्यारह ऐसे केन्द्रीय बैंक थे जिन पर सरकार का नियत्रण था। इन परिस्थितियो के कारण सर्वप्रथम यह अश-धारियो का बैंक रहा है। पर इसके बाद से परिस्थितियो मे अन्तर होते गये और इसके राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा।

इसके कार्यों का अगर विश्लेषण करे तो हमे पता चलेगा कि नाम मात्र को यह अशधारियो का बैंक रहा है। शुरू से ही इसके प्रमुख पदो पर सरकार के द्वारा मनोनीत व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे। अपने जीवन काल से ही यह सरकार के आदेशो के अनुसार कार्य करता रहा तथा उससे सम्पर्क स्थापित किये रहा। इसी से इसके राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता और भी मानी जाने लगी।

यह भी हमे ध्यान रखना चाहिए कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले तक इसके राष्ट्रीयकरण की बात ने अधिक जोर नही पकडा था क्योकि सरकार ही अराष्ट्रीय थी। और किसी जिम्मेदार व योग्य सरकार के अभाव के कारण सरकारी कार्य-प्रणाली मे अनावश्यक विलब, अस-फलता व दुर्गुण मौजूद थे। राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत जनता का उस

विदेशी सरकार मे कोई विश्वास न था तथा केन्द्रीय बैंक का उस समय अशधारियो के हाथ मे नियत्रण रहने से उन्हे एक प्रकार का सतोष ही मिलता। पर ज्यो ही अपनी राष्ट्रीय सरकार आयी इसके राष्ट्रीयकरण का जोर बढा। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने देश मे विस्तृत आधार पर योजनाओ को कार्यान्वित किया। इसके लिए केन्द्रीय बैंक का पूर्ण सहयोग अपेक्षित हो गया तथा इस पर व्यक्तिगत नियत्रण को अब अच्छा नही समझा जाने लगा, क्योकि अगर केन्द्रीय बैंक व सरकार एक दूसरे की उन्नति मे बाधक होते है तो हमारी योजनाए कभी सफल नही हो सकती थी। सरकार के अवाछनीय कार्यो पर नियत्रण रखने के लिए दूसरे क्षेत्र है, जैसे सविधान मे सशोधन व चुनाव आदि की प्रणाली मे परिवर्तन करके इसके कार्य-सम्पादन पर अकुश रखा जा सकता है। चाहे कोई भी दल सत्तारूढ हो, देश के हित मे सर्वदा यह अनिवार्य है कि उसे केन्द्रीय बैंक का पूरा पूरा सहयोग प्राप्त रहे। सर्वप्रथम १९४७ के बजट के भाषण मे भारतीय वित्तमत्री ने रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण की नीति का सकेत किया। ४ फरवरी १९४८ के बजट भाषण मे पुन घोषणा की गयी कि सरकार सितम्बर १९४८ के बाद रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के लिए विचार करेगी। जहाँ तक अशधारियो की क्षति पूर्ति का प्रश्न है सरकार अशो के मासिक बाजार के औसत मूल्य के बराबर क्षति पूर्ति करेगी। १ जनवरी १९४९ को रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया तथा १०० रु० के प्रत्येक अश पर ११८ रु० १० आने क्षति पूर्ति दी गयी और उसके तुरन्त बाद भारत सरकार ने सचालको का नया बोर्ड नियुक्त किया तथा उनका नाम १५ जनवरी तक प्रकाशित भी हो गया। इसके प्रबन्ध के सम्बन्ध मे कानून ने केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दे दिया कि वह गवर्नर से सलाह करके जनता के हित मे आदेश दे सकती है।

चूंकि रिजर्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के साथ किये गये सभी अनु-बन्धो को पूरा करता था जिसमे इसे विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय करना पडता था, अत इस बिल से पुराने एक्ट की १७ व ३३ धाराएँ बदल दी

गयी जिससे इसे अधिकार मिल गया कि यह स्टर्लिंग सिक्यूरिटियो के साथ साथ उत देशो की मुद्रा व सिक्यूरिटियो का भी क्रय-विक्रय करे, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य हो।

सरकार की आधुनिक आर्थिक व वित्तीय नीतियो को देखने से पता चलता है कि सरकार बैको के क्रमश राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे है। एक ही बार सभी बैको का राष्ट्रीयकरण उत्तम न होगा। इम्पीरियल बैंक का तो राष्ट्रीयकरण हो ही गया। अभी कुछ वर्ष का समय उसके विस्तार मे लगेगा। फिर उसके बाद अन्य बडे बैंको की राष्ट्रीयकरण की सम्भावना हो सकती है जिसमे सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया, पजाब नेशनल बैंक, इलाहाबाद बैंक, युनाइटेड बैंक आफ इण्डिया व युनाइटेड कमर्शियल बैंक इत्यादि है। अगर इन बैको का राष्ट्रीयकरण हो जाता है तो करीब करीब बैंकिग सुविधा का ८० प्रतिशत भाग सरकार के नियत्रण मे आ जायगा। तब इन पर रिजर्व बैंक का नियत्रण आसानी से हो सकता है और इस प्रकार मुद्रा व साख मे सम्बन्ध एव प्रभाव स्थापित किया जा सकता है और देश मे बैंकिग सुविधा का विस्तार सुचारु रूप से किया जा सकता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से तथा १९४९ के बैंकिग कम्पनी ऐक्ट के पास हो जाने से रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की जिम्मेदारी बहुत बढ गयी है। देश मे सयुक्त स्कध बैको को सुचारु रूप से चलाने व उन पर उचित नियत्रण रखने के लिए यह सुझाव दिया जाता है कि एक अलग विभाग इसके लिए खोला जाय, जिसमे एक सयुक्त स्कन्ध बैंक के सचालक की नियुक्ति की जाय। इससे यह आशा की जाती है कि रिजर्व बैंक का बोझ कुछ हलका हो जायगा। इसी प्रकार का एक अन्य विभाग खुल गया है जिससे भारतीय बीमा कम्पनियो की प्रगति का निरीक्षण किया जाता है। इस प्रकार का प्रयास बहुत सफल होगा और इस प्रकार रिजर्व बैंक अपना समस्त ध्यान ग्रामीण वित्त-व्यवस्था को सुधारने मे लगा सकता है, जिससे भारत की सबसे महान् ग्रामीण वित्त की समस्या हल हो सकती है।

जैसी कि आजकल भारतीय सयुक्त-स्कन्ध बैंको की दशा चल रही है, उस को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय बैंको के एकीरकण की बहुत आवश्यकता है। रिजर्व बैंक को यह चाहिए कि वह छोटे छोटे बैंको के क्षेत्रीय आधार पर एकीकरण के लिए प्रयत्नशील हो, क्योकि यह सुधार राष्ट्रीयकरण से अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से भारतीय बैंको की नीति व उनकी उन्नति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अर्थात् १९४७ से भारतीय बैंको का विकास क्रमिक व सुदृढ आधार पर हुआ है तथा वे देश के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण हाथ बँटा रहे है। उनके साधनो मे वृद्धि के साथ ही साथ उनके द्वारा व्यक्तिगत व्यवसाय के लिए प्रदान की गयी सुविधाए प्रशसनीय है। प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से इनके क्षेत्र का बहुत विस्तार हुआ है। सूची-बद्ध बैंको की जमा राशि जो १९५१ मे ८६० करोड थी, बढकर १९५६ तक १,०४३ करोड हो गयी तथा उनके द्वारा प्रदान की गयी ऋण की मात्रा १९५६ तक ४४७ करोड से ६१२ करोड हो गयी तथा सरकारी प्रतिभूतियो मे विनि-योजित बैंको की रकम ३०३ करोड से ३८२ करोड हो गयी। इन बैंको का विदेशी विनिमय का कार्य भी काफी बढ गया। प्रारम्भ काल से ही हमारे देश मे इन बैंको ने अमूल्य सेवाएँ प्रदान की हैं जो सर्राफ नाम से जाने जाते है तथा अपने कार्य को एक पवित्र कर्तव्य मानकर करते रहे है। आज कल वही कार्य आधुनिक सयुक्त-स्कन्ध बैंको द्वारा किये जा रहे है। यह सच है कि इस सदी के प्रारम्भ तक विदेशी बैंक विदेशी व्यापार पर अपना आधिपत्य जमाये हुए थे। पर ज्यो ही स्वदेशी आदो-लन ने जोर पकडा इस प्रकार के बैंक भी कई केन्द्रो मे खुल गये। पर स्वतन्त्रता के साथ ही दुर्भाग्य से देश का विभाजन हुआ जिसके फल-स्वरूप भारतीय बैंको पर बहुत बुरा प्रभाव पडा तथा कई बैंको को अपना दरवाजा हमेशा के लिए बन्द कर देना पडा। तो भी जो बैंक बच गये उन्होने शीघ्र ही अपनी स्थिति सुदृढ बना ली।

१९४९ मे भारतीय बैंकिग ऐक्ट के आ जाने के कारण बैंको की गति

सुदृढ आधार पर चलने लगी तथा देश की बदलती आवश्यकताओ के अनुरूप बैंको का विकास होने लगा, क्योकि व्यापार व वाणिज्य की गति मे एक नया मोड आ गया था। बैंको को भी उसी के अनुरूप होना अनिवार्य था। उनके उद्देश्य भी देश के सामूहिक विकास की पूर्ति की तरफ लग गये जिससे उनको अपनी कार्य-विधि मे भी परिवर्तन करना पडा।

बैंकिग कम्पनी कानून द्वारा भारतीय बैंको के विकास की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक आफ इण्डिया पर आ गयी जो कि भारत का केन्द्रीय तथा राष्ट्रीय बैंक है। रिजर्व बैंक इन बैंको के विकास के लिए सतत प्रयत्न करता रहा है। इस कार्य को वह दो प्रकार से करता है। पहले तो वह बैंको पर उचित पर कडा नियत्रण रखकर उनकी नीति व कार्यविधि को मजबूत आधार पर चलाने के लिए प्रेरित करता है। दूसरे अपनी उदार आर्थिक सहायता देकर मुद्रा की गति मे काफी लोच पैदा करता है तथा काफी हद तक इसने सट्टे की प्रवृत्ति पर भी नियत्रण कर रखा है। विल-बाजार की सुविधा भी प्रदान की गयी है तथा समय समय पर बैंको की कार्य विधि का निरीक्षण कर रिजर्व बैंक बहुत ही रचनात्मक कार्य कर रहा है।

ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिग का प्रचार करने के लिए इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके स्टेट बैंक की स्थापना की गयी, जो अपनी ४०० नयी शाखाएँ खोलने के लिए वचनबद्ध है तथा जिससे देश के प्रत्येक कोने मे बैंकिग सुविधा प्राप्त हो सकती है। स्टेट बैंक की ऋण देने की नीति पर फिर से विचार किया जा रहा है तथा व्यापार व वाणिज्य की वर्तमान आवश्यकताओ के अनुरूप उसे बनाने का कार्य रिजर्व बैंक ने अपने हाथ मे ले लिया है, जिससे समूचे देश का विकास सन्तुलित रूप से हो सके। उसके बाद भारत की पचवर्षीय योजनाएँ आती हैं जिनके कारण भारत के आर्थिक विकास को एक नया दृष्टिकोण मिलता है। इन बैंको ने सरकार के उक्त योजना सबधी विभिन्न उद्योगो मे अपना रुपया लगाकर देश के विकास मे काफी मदद की है।

जहाँ तक सार्वजनिक क्षेत्र की सहायता करने का प्रश्न है, ये बैंक सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय करके उसकी सहायता करते है। यह राशि जो १९५१ मे ३०३ करोड थी १९५६ तक बढकर ३४२ करोड हो गयी। निजी क्षेत्र की व्यापारिक बैंको ने अपनी उदार अग्रिम नीति द्वारा सहायता की है। व्यापारिक बैंको द्वारा दिया गया अग्रिम जो १९५१ मे ४४७ करोड था, बढकर १९५६ तक ६१२ करोड हो गया। इससे पता चलता है कि भारत मे बैंको की गति पचवर्षीय योजनाओ के कारण कुछ वर्ष से उन्नति पर है।

इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत उद्योगो को और सहायता देने के लिए एक वित्त-निगम की भी स्थापना की गयी, जिसके द्वारा मध्य स्थिति के उद्योगो को उत्साहित किया जाता है। इस योजना मे १५ बैंको ने भाग लिया है तथा यह विचार अमेरिकन बैंको की आधुनिक प्रवृत्तियो से ग्रहण किया गया है। इसके द्वारा प्रदान किये गये अग्रिम की अवधि न तो दीर्घकालीन होती है और न अल्प-कालीन, बल्कि मध्य की स्थिति रहती है। क्योकि भारत मे आजकल इस प्रकार की सेवाओ की अधिक आवश्यकता है। इन पच-वर्षीय योजनाओ का जैसे जैसे विकास होता जाता है वैसे ही वैसे बैंको के अग्रिम प्रदेय की नीति औद्योगिक सस्थाओ मे रुपया लगाने की हो रही है। अमेरिका तथा इग्लैण्ड मे भी ऐसी ही प्रवृत्ति पायी जा रही है। साख ही एक ऐसी कीली है जिसके चारो तरफ तमाम आर्थिक विकास का पूरा चक्र घूमता है तथा इस कीली को मजबूत व महत्वपूर्ण बनाना बैंको का काम है। विशेष कर औद्योगिक साख की सुदृढ स्थापना बैंक ही कर सकते है। इस प्रकार बैंको के विस्तार तथा उनके तत्रीकरण (टेकनीक) मे आवश्यक सुधार करना है जिससे वे और अधिक उपयोगी हो सके। यह आवश्यक ही नही अपितु अनिवार्य भी है।

करीब-करीब यही स्थिति अमेरिका के बैंको की कुछ समय पहले थी। पर उन्होने अब समयानुसार अपने मे परिवर्तन कर लिये है तथा अपने ग्राहको के प्रति उनका व्यवहार उत्तरोत्तर सहानुभूतिपूर्ण हो

रहा है जो भारतीय बैंको के लिए अनुकरणीय है। यही नही, ये बैंक केवल आर्थिक सहायता देकर ही उद्योगो की मदद नही करते बल्कि अन्य बहुमूल्य व्यावसायिक सेवाएँ करके भी उद्योगो के विकास मे महत्वपूर्ण हाथ बटा रहे है। हमारे देश मे भी सफल बैंकिग और चैतन्य बैंकिग के सिद्धान्तो का विश्लेषण किया जा रहा है तथा अमल मे लाने का प्रयत्न हो रहा है। पर इस दिशा मे हमे बहुत काम करना है। भारतीय बैंको को अपनी सकीर्ण मनोवृत्तियो का त्याग कर विस्तृत व उदार नीति अपनाना चाहिए, तभी देश के सन्तुलित विकास मे सहायता मिल सकती है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्तिगत व्यवसाय मे बैंको का क्या स्थान होना चाहिए, इसके निर्धारण के लिए पुन विचार करना पडेगा। इसका अध्ययन कर नये दृष्टिकोण पर विचार करना होगा। कुछ लोगो का विचार है कि देश मे बैंकिग की उपयोगिता बढाने के लिए यह आवश्यक है कि बैंको की भी एक नियोजन विधि अपनायी जाय। यह विचार वास्तव मे अनुकरणीय है। आज कल देश मे बैंको के विकास की आवश्यकता तो है पर वह विकास नियोजित व सुदृढ आधार पर होना चाहिए, तभी वह हमारी सभावित आवश्यकताओ के पूर्ण करने मे सफल होगा।

अध्याय ९

बैंकिंग संविधान

१९३७ के पूर्व बैंको के लिए अलग से कोई विधान नही था। १९१३ के इडियन कम्पनी ऐक्ट के अनुसार ही ये शासित होते थे तथा इनका पजीकरण भी उसी के अन्तगत होता था। सामान्यत ये उसी प्रकार शासित होते थे जैसे सामान्य सयुक्त-स्कन्ध कम्पनियाँ होती है। कही-कही अपवादस्वरूप कुछ विशेष नियम केवल बैको पर लागू होते थे जा बैंको व सामान्य कम्पनियो को पृथक् करते थे।

साधारणत लोगो की धारणा थी कि यह ऐक्ट बैको के लिए बहुत अपर्याप्त है और बहुत से बैक सर्वथा इस नियम के अन्तर्गत आते ही नही। सभी देशो मे बैंको के लिए अलग से कानून थे क्योकि इनका स्वरूप अर्ध सरकारी है। बैक जनता की बचत अपने पास रखकर तथा उसके उपयोग द्वारा जनता के आर्थिक जीवन को बहुत कुछ प्रभावित कर सकता है। इसलिए यह आवश्यक समझा जाने लगा कि बैको के लिए एक अलग विधान हो जिससे जमा करने वालो के हित को सरक्षण मिले और बैको के प्रति जनता का विश्वास बढे। जनता का विश्वास बढने पर ही बैको का विकास सुदृढ आधार पर हो सकता है। यह सत्य है कि इग्लेण्ड मे बैको के लिए कोई अलग कानून नही है पर वहाँ इसका उद्देश्य लोक-सम्मति तथा परम्पराओ आदि से पूरा हो जाता है जो शताब्दियो पहले से विकसित हो चुकी है।

यह सच है कि कभी-कभी बैकिग विधान कितने ही सुलझे हुए क्यो न हो, बैको की कार्यविधि व उनकी सूझ-बूझ को कुठित कर देते है। यह भी देखा गया है कि यह कार्य अगर उन पर छोड दिया जाय तो उसे वे अपना उत्तरदायित्व समझकर भली-भाँति निभाने का प्रयत्न कर सकते

हैं। अकेक्षक (स्टैटिस्टिसिअन) का निरीक्षण व रिजर्व बैंक का नियत्रण कानून से कही अधिक प्रभावशाली देखा गया है। बैंक-विशेष की आवश्यकतानुसार सीमा-पार्षद-नियम व सीमा-अन्तर्नियम मे आवश्यक सशोधन करके भी उनकी कार्य-विधि को सतोषजनक रूप से चलाया जा सकता है। फिर भी कुछ ऐसे विषय है जिन पर कोई-न-कोई ऐक्ट या विधान होना ही चाहिए जिससे बैको की कार्य-क्षमता का एक सामान्य स्तर स्थापित किया जा सके। इस विचार को सामने रखते हुए केन्द्रीय बैंकिग-कमेटी ने एक सुझाव दिया था कि एक विशेष बैकिग कानून होना चाहिए जिससे सभी बैंको पर सामान्य नियत्रण हो और सभव हो तो कुछ दशा तक विदेशी बैको पर भी नियत्रण किया जाय। इसके विपरीत कुछ विदेशी विशेषज्ञो का मत था कि अलग से कानून न पास करके कम्पनी ऐक्ट १९१३ मे ही आवश्यक सशोधन कर दिया जाय, क्योकि इससे वास्तविक सरक्षण बैंको को मिल नही पायेगा। उदाहरण-स्वरूप अमेरिका मे अनेक बैंक असफल हो रहे थे जब कि वहॉ बैंको के लिए अलग से कानून विद्यमान था और यह आशका की जाती थी कि अगर अलग से कानून पास होने पर भी बैंक असफल होते रहे तो जनता का विश्वास विधान के प्रति हट जायगा, जिससे कानून की मर्यादा कम होगी।

भारतीय कम्पनी सशोधन विधान १९३६—देश मे विदेशी सरकार होने के नाते उसके लिए विदेशी विशेषज्ञो की सलाह मानना स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप सरकार ने केन्द्रीय बैंक की सलाह की अवहेलना करके पुराने कपनी कानून १९१३ मे ही निम्न सशोधन किये।

(१) बैंकिग कम्पनियो को सामान्य कम्पनियो से अलग करने के लिए बैंक की यह परिभाषा की गयी कि बैकिग कम्पनी का प्रमुख व्यवसाय जनता की जमा को स्वीकार करना है जिसे चेक, ड्राफ्ट या आर्डर द्वारा निकाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त वह निम्न कार्यो मे से कुछ अन्य कार्य तथा उनके सहायक कार्य भी कर सकती है, यथा—

(क) बिलो, प्रतिज्ञा-पत्रो, स्टाक इक्सचेंज, प्रतिभूतियो तथा रेलवे रसीद पर रुपये का लेन-देन व उनका स्थानान्तरण करना।

(ख) सरकार या स्थानीय सत्ता की तरफ से अभिकर्त्ता का काम करना, पर प्रबन्ध-अभिकर्ता की तरह से वह किसी भी व्यवसाय मे कार्य नही कर सकती है।

(ग) राजकीय व व्यक्तिगत ऋण के लिए प्रसविदा व व्यवहार तथा लेन-देन करना।

(घ) सरकारी व म्युनिसिपल शेयर आदि की गारटी लेना तथा उनको नीलाम करना।

(ङ) गारन्टी व क्षतिपूरक बन्धन के सभी व्यवहार करना।

(च) किसी भी प्रकार के व्यवसाय की आर्थिक सहायता करना।

(छ) ऐसी परिवर्तनीय व अपरिवर्तनीय सम्पत्ति का नीलाम व विक्रय करना जो उसे ऋण के शोधन हेतु प्राप्त हुई हो।

(ज) ट्रस्ट के कार्यो को हाथो मे लेना तथा उसके कार्यो को निभाना।

(झ) कम्पनियो के शेयर आदि प्राप्त करना।

(ञ) अपने कर्मचारियो के हित की सस्थाओ की स्थापना करना व उनको आर्थिक सहायता देना।

(ट) कम्पनी के हितार्थ निम्न कार्य करना—

१ भव[illegible]स्त करना एव उनको सुरक्षित रखना।

२ कोई [illegible] ऐसा काम करना जो आकस्मिक रूप से कम्पनी के हित के लि[illegible]वश्यक हो जाय।

३ कोई [illegible]म्पनी उस समय तक पजीकृत नही की जा सकती जब तक वह अ[illegible] सीमा-पार्षद-नियम मे अपना प्रमुख उद्देश्य जनता से स्वीकार न करा[illegible] व ऊपर लिखे कार्यों मे से कुछ के उद्देश्य स्पष्ट न कर दे।

४. कोई भी बैंकिग कम्पनी ऊपर लिखे कार्यों के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नही कर सकती चाहे वह भारत मे स्थापित हो या विदेश मे। केवल गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह उन कार्यों के अतिरिक्त कोई कार्य करने की आज्ञा अत्यन्त आवश्यक होने पर दे सकता है।

५ प्रबन्ध-अभिकर्ता किसी भी बैंकिग कम्पनी का प्रबन्ध नही क सकता है।

६ कोई भी रजिस्टर्ड बैंकिग कम्पनी अपना व्यवसाय तब त चालू नही कर सकती जब तक ५०,००० रु० के शेयर कार्य-शील पूँज के रूप मे आवटित न कर दिये जायँ और इस प्रकार का घोषणा-प डाइरेक्टर व प्रबन्धक द्वारा रजिस्ट्रार के पास पहुँच न जाय कि आव टित किये गये अशो का रुपया प्राप्त हो गया है।

७ कोई भी बैंकिंग कम्पनी अपनी भुगतान न हुई पूँजी प कोई वर्तन (कमीशन) नही ले सकती है, या उसकी अधिकारी नह हो सकती है।

८ प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को, जो रिजर्व बैंक से अनुसूची-बद्ध नही है, अपने समयानुसार जमा का क्रमश १।। प्रतिशत और नकद प्रतिशत जमा रखना पडेगा और प्रत्येक महीने मे पिछले महीने के दायित्व व नकद जमा का लेखा रजिस्ट्रार के यहाँ पहुँचाना चाहिए। अग इस कार्य मे विलम्ब हुआ तो उत्तरदायी व्यक्ति को प्रत्येक विलबित दिन के लिए जुर्माना देना पडेगा।

९ बैंकिग कम्पनी किसी ऐसी सहायक कम्पनी का अश नही ले सकती जिसका उद्देश्य उपर्युक्त कार्यों मे से नही है।

रिजर्व बैंक द्वारा १९३९ मे पृथक् कम्पनी अधिनियम की माँग पुन कम्पनी कानून मे सशोधन—

१९३९ मे रिजर्व बैंक ने भारत सरकार के समक्ष एक ड्राफ्ट बिल पेश किया जिसमे निम्न तथ्यो पर प्रकाश डाला गया था।

(१) उत्तर भारत मे कतिपय बैंको के असफल हो जाने के कारण बैंक पर कडे वैधानिक नियत्रण की आवश्यकता है।

(२) अनुसूचित बैंको मे से अधिकाश, आवश्यक सूचनाएँ रिज बैंक (आर० आई० बी०) को नही भेजते है और न निश्चित नकद ह जमा रखते हैं, अत वे बैंक की परिभाषा (सन् १९३६) मे नही आते

(३) १९३६ का ऐक्ट कमजोर है और जिन्हे आवश्यकता है उन्हे वह आवश्यक व उचित सरक्षण प्रदान नही करता है। इसलिए, और विशेष कर जमा करने वालो के हित की रक्षा के लिए पृथक् अधिनियम की आवश्यकता है।

भारत सरकार ने तत्कालीन युद्ध के कारण ड्राफ्ट मे दिये गये सुझावो को मानने मे अपनी असमर्थता प्रकट की। उसने सुझाव दिया कि भारतीय कम्पनी कानून मे बैंक से सम्बन्धित धाराओ का ही केवल सशोधन किया जाय। फलत १९४२ मे एक सशोधन पास हुआ, जिसके अनुसार वे सभी कम्पनियाँ जो अपने नाम के आगे या पीछे बैंक, बैंकर या बैंकिंग शब्द का प्रयोग करती है, बैंक की परिभाषा के अन्तगत आ गयी, चाहे वे चालू खाते मे जमा रखती हो या चेक द्वारा भुगतान की सुविधा प्रदान करती हो या नही। उन पर सभी सामान्य नियत्रण, जो बैंकिग के लिए बनाये गये है, लागू हुए। यह कानून १ नवम्बर १९४३ से लागू हुआ। कुछ सशोधन १९४४ मे भी किये गये जो निम्न है—

(१) कोई भी बैंकिग कम्पनी ऐसे मनेजिग एजेन्ट को नियुक्त नही कर सकती जिसे प्रारम्भिक कम्पनी के लाभ मे से देना नियत हुआ हो एव जिसका कार्य-काल पॉच वर्ष से अधिक हो।

(२) कुछ नियत्रण उन बैंको पर लागू हुए जो १५ जनवरी १९३७ के बाद स्थापित हुए थे, यथा—

(क) परिदत्त पूजी कुल पूजी के अर्ध भाग से कम नही होनी चाहिए।

(ख) पूजी सामान्य अशो मे विभक्त होनी चाहिए और वे ही पूर्वाधिकारी अश चालू रह सकते है जो १ जुलाई १९४४ से पहले निगमित किये गये हो।

(ग) जहॉ तक मत-दान का प्रश्न है उसे चुकता पूजी के उस भाग तक ही नियत्रित रखना चाहिए जितना कि अशधारियो का अश हो। अर्थात् चुकता अश के अनुपात तक ही मतदान सीमित होना चाहिए।

भारत सरकार ने यह बिल १९४४ के अन्त मे केन्द्रीय विधान सभा

मे पेश किया, पर युद्ध काल की असामान्य स्थिति के कारण तथा विधान सभा मे अनेक परिवर्तन होने के कारण यह लागू न हो सका तथा १९४८ मे भारतीय पार्लियामेन्ट मे यह पुन पेश किया गया जिसमे निम्नलिखित सशोधन और किये गये।

(१) बैंकिग को "जमा स्वीकार करने वाली तथा माँग पर पुन भुगतान करने वाली सस्था" परिभाषित किया गया।

(२) इस कानून के कार्यान्वित होने के दो साल बाद कोई कम्पनी बैंकिग का कार्य नही कर सकती है, जब तक वह अपने नाम के साथ बैंकिग, बैंक या बैंकर शब्द न युक्त करे। बैंकिग कम्पनी के अतिरिक्त अन्य कोई सस्था माँग पर देय जमा को स्वीकार नही कर सकती।

(३) अगर अपनी कार्य-पद्धति के अन्तर्गत कोई बैंकिग कम्पनी ऐसी स्थायी सम्पत्ति प्राप्त करती है जिसे वह अपने व्यापार के साथ समा-योजित नही कर सकती, तो ऐसी सम्पत्ति को उसे सात वर्ष के अन्तर्गत बेच देना होगा।

(४) मतदान की क्षमता किसी एक अशधारी के कुल मतदान के दस प्रतिशत से अधिक नही हो सकती।

(५) कोई भी बैंकिग कम्पनी अपने ही शेयरो की प्रतिभूति पर ऋण नही दे सकती।

(६) पूँजीकृत व्यय चुकाने या काटने के बाद ही अशो पर लाभाश वितरण किया जा सकता है।

(७) कोई भी बैंकिग कम्पनी किसी ऐसे व्यक्ति को डाइरेक्टर नही नियुक्त कर सकती जो अन्य किसी बैंकिग कम्पनी का डाइरेक्टर हो।

(८) समयानुसार देय धन का १ प्रतिशत नकद जमा रखने की अपेक्षा २ प्रतिशत बढा दिया गया।

(९) कोई भी बैंकिग कम्पनी किसी ऐसी कम्पनी को अपनी सहायक नही बना सकती जिसका बैंकिग व्यवसाय न हो।

(१०) बैंकिग कम्पनी किसी अन्य कम्पनी के २० प्रतिशत से अधिक अश का क्रय नही कर सकती और न उस कम्पनी का

अश खरीद सकती है जिसमे उसके प्रबन्धकर्त्ता (मैनेजर) का हित निहित हो।

(११) प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी इस ऐक्ट के लागू होने के छ महीने बाद रिजर्व बैंक आफ इडिया से कार्य करने की अनुमति लेगी। अत प्रत्येक नये बैंक को कार्य प्रारम्भ करने के पहले रिजर्व बैंक से लाइसेस प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया, चाहे वह किसी भी प्रान्त मे स्थापित हुआ हो। रिजर्व बैंक उस बैंक के बारे मे निम्न स्थिति से सतुष्ट होकर ही लाइसेस दे सकता था—

(क) वह बैंक अपने जमा करने वालो की माँग को पूरा करने के योग्य है, चाहे जब वे माग करे।

(ख) जमा करने वालो के हित की बैंक द्वारा पुष्टि हो गयी है। अर्थात् उस बैंक के किसी भी कार्य से जमा करने वालो के हित को क्षति नही पहुँचती है।

(ग) रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि उपर्युक्त किसी भी शर्त के पूर्ण न होने पर वह लाइसेस नही दे सकता और दिये हुए लाइसेस को वापस ले सकता है।

भारतीय कम्पनी बिल १९४९—सन् १९४६ का पुराना बैंकिंग बिल वापस ले लिया गया तथा २२ मार्च सन् १९४८ को एक नया बिल प्रस्तुत किया गया जो १६ मार्च १९४९ को पास हुआ। इस प्रकार जो प्रस्ताव १९३९ ही से रखे जा रहे थे तथा १९४६ और ४९ के बीच भिन्न-भिन्न आज्ञाएँ प्रकाशित की गयी थी उन सब को सम्मिलित रूप से इस ऐक्ट के द्वारा पास कर दिया गया। इसकी प्रमुख धाराएँ निम्नलिखित है।

बैंकिंग व्यापार का अर्थ है जनता को उधार देने तथा विनियोगो मे लगाने के विचार से जमा प्राप्त करना और चेक, ड्राफ्ट, आज्ञा-पत्र द्वारा या अन्य प्रकार से माँगने पर तथा और किसी तरह वापस भुगतान देना। अत बैंकिंग कम्पनी वह कम्पनी है जो बैंकिंग का कार्य करे।

ऐसा इसलिए किया गया कि बहुत सी बैंकिंग कम्पनियो के विकास

का प्रमुख कारण यह था कि वे व्यापार करने लगी थी जिसे धारा ८ के द्वारा रोक दिया गया।

भारतीय बैंकिग ऐक्ट १९४९ की धारा १० के अन्तर्गत किसी भी बैंक का प्रबन्ध किसी प्रबन्ध-अभिकर्ता के द्वारा नही होना चाहिए तथा कोई भी बैंकिंग कम्पनी अपने यहाँ ऐसे व्यक्ति को नही नियुक्त करेगी जो कभी अदालत द्वारा दिवालिया घोषित कर दिया गया हो, या जिसका प्रतिफल कम्पनी के लाभ पर कमीशन या लाभ के कुछ भाग के रूप मे हो अथवा जिसका प्रतिफल कम्पनी के समस्त साधनो से अधिक हो।

धारा ११ के अनुसार जो बैंकिंग कम्पनी विधान पास होने के पहले से कार्य कर रही थी वह विधान पास होने के तीन साल पश्चात्, तथा विधान पास होने के पश्चात् स्थापित कोई भी बैंकिंग कम्पनी स्थापना के समय से ही भारत मे उस समय तक व्यापार नही कर सकती जब तक कि उसकी पूँजी तथा रिजर्व दोनो का मूल्य नीचे लिखे प्रकार से न हो।

(क) यदि उसका कार्य एक से अधिक राज्यो मे है तो पाँच लाख रुपये और यदि वह बैंक कलकत्ता या बम्बई अथवा दोनो मे कार्य करता है तो दस लाख रुपये हो।

(ख) यदि उसका कार्यालय एक ही राज्य मे है और कलकत्ता तथा बम्बई मे नही है तो प्रमुख कार्यालय मे एक लाख रुपये तथा अन्य कार्यालयो मे प्रत्येक मे १० लाख रुपये हो। जिस बैंक का सिर्फ एक ही कार्यालय एक ही स्थान पर होगा उसके लिए कम-से-कम ५० हजार रुपये हो।

(ग) जब किसी बैंक के समस्त कार्यालय एक ही प्रान्त मे हो और कुछ कलकत्ता या बम्बई मे हो तब उसे पाँच लाख रुपये के मूल्य की पूँजी और रिजर्व, तथा बम्बई या कलकत्ता से बाहर किसी भी कार्यालय मे २५ हजार रुपये के मूल्य की पूँजी और रिजर्व रखना आवश्यक है।

इस कानून की धारा १२ के अनुसार किसी भी बैंक की प्रार्थित पूँजी उस की अधिकृत पूँजी की आधी से कम नही होगी और उसकी प्राप्त

पूँजी उस की प्रार्थित पूँजी की आधी से कम नही होगी। यदि कोई बैंक अपनी पूँजी बढाना चाहे तो रिजर्व बैंक की आज्ञा से दो साल के भीतर इन शर्तों की पूर्ति करके ऐसा कर सकता है। पूँजी रचना के उपर्युक्त नियम उन बैंको पर लागू नही है जो १५ जनवरी १९३७ के पहले स्थापित हो गये थे।

धारा १५ के अनुसार कोई भी बैंक अपने पूँजी-व्यय का अपलेखन किये बिना कोई लाभाश नही दे सकता, जो कि प्रारम्भिक व्यय, सगठन-व्यय, अशो को बेचने पर कमीशन, दलाली आदि हैं।

धारा १७ के अनुसार प्रत्येक बैंक के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वह लाभाश वितरण करने के पूर्व लाभ का कम-से-कम २० प्रतिशत भाग प्रति वर्ष सचित कोष मे तब तक जमा करता रहे जब तक वह कोष परिदत्त पूँजी के बराबर न हो जाय।

धारा २० के अनुसार कोई भी बैंक अपने हिस्सो की जमानत पर ऋण नही दे सकता है, न बैंक किसी ऐसे साझे या निजी कम्पनी को ऋण दे सकता है जिसमे बैंक का सचालक साझीदार हो।

धारा २१ के अनुसार जनहित के विचार से रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया है कि वह बैंकिंग कम्पनियो की ऋण-नीति का निर्धारण कर सकता है। व्याज दर आदि के लिए भी वह सुझाव दे सकता है। इस नियम का ध्येय सट्टेबाजी तथा मूल्य-वृद्धि रोकने के लिए साख पर नियत्रण करना है।

धारा २३ के अनुसार कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना भारत के किसी भी भाग मे न तो किसी नयी जगह पर अपना कार्यालय खोल सकता है और न अपना कार्यालय एक स्थान से दूसरे स्थान को बदल सकता है। कानून की धारा २४ के अनुसार इस कानून के लागू होने के दो वर्ष उपरात प्रत्येक बैंक को अपनी कुल मुद्दती तथा माँग जमाओ के २० प्रतिशत मूल्य का नकद रुपया सोने तथा अन्य अनुमोदित सिक्यूरिटी मे भारत मे रखना पडेगा। इस नियम का मुख्य ध्येय यह है कि बैंक अपने

जमा करने वालो की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए उचित रूप से तरल द्रव्य अपने पास रखें। भारतीय बैंकिंग का सबसे बडा दोष यह रहा है कि छोटे-छोटे बैंक तरलता को नष्ट कर अपना व्यापार करने लगते है। इन नियमो का पालन किया जाता है या नही इसके लिए प्रत्येक बैंकिग कम्पनी को प्रति मास या तीन महीने मे इसका विवरण रिजर्व बैंक को भेजना पडेगा।

धारा २७ के अन्तर्गत प्रत्येक बैंकिग कम्पनी को महीने के अन्तिम शुक्रवार के दिन अपनी देय तथा पूँजी का विवरण रिजर्व बैंक को भेजना पडता है। रिजर्व बैंक किसी भी समय किसी बैंकिग कम्पनी को लिखित रूप मे सूचना देकर एक निश्चित समय के अन्दर अपने कार्य का विवरण प्रस्तुत करने के लिए आज्ञा दे सकता है।

रिजर्व बैंक कुछ सीमित काल के लिए उपर्युक्त प्रतिबन्धो व नियमितताओ से, उचित कारण होने पर, छूट दे सकता है।

बैंको के विघटन की रीतियो के लिए इस कानून मे कुछ व्यवस्था की गयी है और हाईकोर्ट को कुछ विशेष अधिकार भी दिये गये हैं।

अन्य कुछ धाराएँ भी है जिनमे बैंकिग कम्पनी के अकेक्षण तथा एकाउन्ट के विषय मे विस्तार से नियम बतलाये गये है।

इस कानून के उद्देश्य ये है—(१) अशधारियो व रकम जमा करने वालो के हित की रक्षा करना, जो कुप्रबन्ध व बेईमानी के कारण जोखिम मे था। इस कानून की दो प्रकार से आलोचना की गयी–(क) राष्ट्रीयकरण की नीति मे विश्वास करने वालो का कहना था कि यह कानून काफी शिथिल है जिससे बैंकिग सस्थाओ की कार्यक्षमता व योग्यता घट सकती है तथा (ख) जो व्यक्तिगत व्यवसाय को प्रोत्साहन देने वाले थे उनका कहना था कि इसके द्वारा बैंको की उन्नति मे अनावश्यक रूप से बाधा पडेगी। कुछ अन्य आलोचनाएँ भी इस कानून पर की गयी, यथा—एक तो इस कानून मे देशी बैंकरो को पृथक् रखा गया है,

जो कि भारतीय बैंकिग व्यवसाय मे एक महत्वपूर्ण स्थान रखते है।

दूसरी आलोचना धारा ५४ के कारण है जिसके द्वारा केन्द्रीय सरकार व रिजर्व बैंक के किसी पदाधिकारी पर कोई अभियोग नही चलाया जा सकता।

विधान सभा के कुछ सदस्यो ने इस बात का उल्लेख भी किया कि इस धारा के कारण सुदृढ बैंकिग नीति पर आघात पहुँचेगा, क्योकि रिजर्व बैंक को इस धारा द्वारा अवाछनीय स्थिति प्राप्त हो जाती है तथा अन्य बैंको के अधिकार रिजर्व बैंक की दया पर निर्भर हो जाते है।

अध्याय ७

विदेशी विनिमय बैंक

जिस प्रकार देश के भीतर भुगतान की क्रियाएँ देश मे स्थित विभिन्न बैंको द्वारा होती है, उसी प्रकार एक देश का भुगतान दूसरे देश के साथ विदेशी विनिमय बैंक द्वारा होता है। विदेशी विनिमय बैंको का प्रमुख कार्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी भुगतान करना होता है। ये बैंक विदेशी विनिमय बिलो तथा आयात-निर्यात सम्बन्धी भुगतान की बडे पैमाने पर व्यवस्था करते है। विदेशी विनिमय बैंक भुगतान के अतिरिक्त विदेशी मुद्रा के ऋण की भी व्यवस्था करते है। मुद्रा विनियोग तथा साख-पत्र परिवणित करने का कार्य भी ये करते है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे इनका बहुत अधिक महत्व है।

इन बैंको को दो भागो मे बॉटा जा सकता है—

(१) ऐसे बैंक जो विदेशो मे अपनी ही शाखाओ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के भुगतान का कार्य करते है, जैसे भारत मे लायड्स बैंक।

(२) ऐसे बैंक जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से कुछ देशो के बैंकिग कार्य के लिए एक सगठन के रूप मे कार्य करते है, जैसे चार्टर बैंक आफ आस्ट्रेलिया एण्ड चाइना। जिन देशो का भारत से व्यापार होता है उन सभी की ओर से भारत मे यह कार्य या तो कोई बैंक करता है या किसी बैंक की शाखाएँ करती है। परन्तु भारत का कोई बैंक विदेशो मे कार्य नही करता अत भारत का सभी विदेशी व्यापार विदेशी विनिमय बैंको के सहारे ही होता है। बैकिग प्रणाली के आरम्भ से ही इस ओर भारत का ध्यान नही गया। साथ ही भारतीय बैंको के पास सीमित साधन थे और वे अपनी शाखाएँ विदेशो मे स्थापित नही कर सकते थे। देश मे बढते हुए उद्योग और व्यापार की पूर्ति भी ये पूरी तौर पर नही कर पाते थे। इस प्रकार विदेशो मे भारतीय व्यापार का एकाधिकार विदेशी विनिमय बैंको

के ही हाथ रहा। इधर कुछ वर्षो से बैंक आफ इडिया ने अपनी एक शाखा लन्दन मे स्थापित की है और यूनाइटेड कर्मशियल बैंक आफ इडिया ने इग्लैण्ड और मलाया मे शाखाएँ स्थापित की है। यदि भारत के अन्य बैंक भी अन्य देशो मे शाखाएँ स्थापित करके भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भुगतान करने मे सफल हो सकें तो जो लाखो रुपये की राशि विदेशी विनिमय बैंको को मिलती है वह भारतीय बैंको को ही प्राप्त हो जायगी।

विदेशी विनिमय बैंक के काय तीन भागो मे बाँटे जा सकते है--

(१) एक देश को दूसरे देश से आयात-निर्यात करने मे सहायता प्रदान करना।

(२) एक देश का माल दूसरे देश के बन्दरगाहो से लाकर उस देश के विभिन्न भागो मे वितरित करने की सुविधा देना।

(३) एक सामान्य बैंक के लेन-देन सम्बन्धी कार्य करना।

जब कोई भारतीय व्यापारी किसी अन्य देश मे माल भेजता है तो वह माल मँगाने वाले के नाम विदेशी विनिमय बिल बनाकर माल के साथ भेजता है। जैसे यदि कोई व्यापारी अपना माल इग्लैड भेजे तो वह विदेशी विनिमय बिल ऐसे विनिमय बैंक को देगा जिसकी शाखा इग्लैण्ड मे हो। इग्लैण्ड मे माल प्राप्त करने वाला व्यापारी इस बैंक की शाखा मे मूल्य जमा कर देगा और भारतीय व्यापारी को यह मूल्य भारत मे स्थित उस बैंक के द्वारा प्राप्त हो जायगा। ये बिल दो प्रकार के होते है—

(क) भुगतान बिल, (ख) स्वीकृति बिल। भुगतान बिल का मून्य माल प्राप्त करने पर दे दिया जाता है, परन्तु स्वीकृति बिल माल प्राप्त करने की स्वीकृति होती है, अर्थात् व्यापारी माल प्राप्त करने पर उसकी स्वीकृति की सूचना पर हस्ताक्षर कर उसे विनिमय बैंक को लौटा देगा और या तो स्वीकृतिपत्र मे लिखे निश्चित समय के बाद माल प्राप्त करने वाला व्यापारी उस माल का मूल्य विनिमय बैंक मे जमा करेगा या इसी अवधि के भीतर उतने मूल्य का माल उस व्यापारी को भेज देगा जिससे उसने माल खरीदा था। स्वीकृति बिल प्रथा उन देशो मे अधिक सफल

होती है जिनका आपस मे लेन-देन कई वस्तुओ मे होता है तथा जिनमें विनिमय बैंक की शाखाएँ कार्य करती है, जैसे भारत और इंग्लैण्ड का व्यापार।

बन्दरगाहो से भीतरी स्थानो तक माल ले जाने की सुविधा—विनिमय बैंक सामान्यत यह सुविधा इसलिए देते है ताकि वे किसी देश मे बैंकिंग के साधारण कार्य भी कर सके। जैसे कोई कानपुर का व्यापारी लन्दन से सामान आयात करता है तो उसके नाम का लिखा हुआ विनिमय बिल चार्टर बैंक आफ इंग्लैण्ड की कानपुर शाखा को भेज दिया जायगा। कानपुर मे चार्टर बैंक की यह शाखा होने से भुगतान करने मे सुविधा होगी। इसी प्रकार यदि इस व्यापारी को कोई माल इंग्लैन्ड के किसी नगर मे भेजना होगा तो चार्टर बैंक की यही शाखा उसका विदेशी विनिमय बिल भी बना देगी और इस व्यापारी को किसी भी बन्दरगाह तक जाने की आवश्यकता नही होगी। इन्ही आन्तरिक शाखाओ द्वारा ये विदेशी विनिमय बैंक किसी देश के आन्तरिक स्थानो मे व्यापार की सुविधाएँ देते है। जैसे यदि किसी बैंक की शाखाएँ कानपुर और कलकत्ता मे है तो कानपुर और कलकत्ते के बीच व्यापारिक लेन-देन इन शाखाओ द्वारा हो जाता है।

इस प्रकार विदेशी विनिमय बैंक अपनी शाखाओ की सहायता से किसी देश के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो व्यापार करते है, अत कुछ बडे व्यापारी इन सुविधाओ के कारण अपना व्यापारिक लेन-देन, आन्तरिक और बाह्य दोनो तरह का विदेशी विनिमय बैंको द्वारा ही करते है। विदेशी विनिमय बैंको की पूँजी भी अन्य बैंको से बहुत अधिक होती है जिससे वे लम्बे समय के भुगतान की सुविधाएँ भी दे देते है। इस प्रकार भारत मे बैंकिग कार्य का पर्याप्त लाभ इन विदेशी बैंको को प्राप्त हो जाता है। भारत सरकार ने विदेशी विनिमय बैंको की इस कार्य-प्रणाली की ओर अभी तक ध्यान नही दिया है परन्तु विदेशी बैंको की इस गतिविधि को रोकना बहुत आवश्यक है, नही तो भारतीय बैंक सुदृढ नही हो पायेंगे ।

भारत मे बैंकिंग प्रणाली स्थापित होने के पूर्व से ही विदेशी विनिमय बैंक यहाँ कार्य करते थे। १८९३ ई० मे जब भारतीय रुपये का स्वतन्त्र टकन बन्द हो गया तब इन बैंको ने ही विदेशी विनिमय के समय, जब विनिमय-दर ऊँची थी और भारतीय बैंको के पास साधन की कमी थी, आयात-निर्यात की बैंकिंग सुविधा प्रदान की थी। भारत का विदेशी व्यापार भी इन्ही विदेशी बैंको द्वारा ही बढा है। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था मे भारत के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे विदेशी विनिमय बैंक सहायक हुए है। परन्तु देश मे व्यापार और उद्योग की उन्नति के बाद यहाँ कई अच्छे बैंक कार्य करने लगे जिनकी शाखाएँ देश भर मे फैली हुई है। इन बैंको को यदि उपयुक्त सरक्षण और सुविधाएँ दी जायें तो विदेशी विनिमय बैंको का बहुत कुछ कार्य ये देश मे कर सकते है।

केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने सर्व-सम्मति से यह सुझाव दिया था कि भारत मे विदेशी बैंको के कार्यो की खुली छूट भारतीय आर्थिक दृष्टि से हानिकारक है। इन बैंको को देश मे कार्य करने के लिए अनुज्ञापत्र प्राप्त करना आवश्यक कर दिया जाय। इस अनुज्ञापत्र की शर्ते देश की औद्योगिक और व्यापारिक नीति के अनुसार समय-समय पर बदलनी चाहिए। इस पत्र द्वारा रिजर्व बैंक का इन विदेशी विनिमय बैंको पर नियत्रण रहेगा तथा जनता द्वारा इन बैंको मे जमा की गयी राशि की सुरक्षा होगी। परन्तु तत्कालीन भारत सरकार ने यह सुझाव नही माना जिसका भारतीय बैंको के विस्तार पर प्रतिकूल असर पडा। स्वतत्रता के बाद भारत सरकार ने जब इस ओर ध्यान दिया तो कोई भारतीय बैंक बिना विशेष सुविधा पाये विदेशी विनिमय बैंक के रूप मे कार्य करने के लिए तैयार नही हुआ, क्योकि विदेशी विनिमय बैंक के कार्यो के लिए बहुत बडी मात्रा मे लम्बे समय तक के लिए धन की व्यवस्था करनी होती है।

भारत मे विदेशी विनिमय बैंको के द्वारा लगभग सभी निर्यात व्यापार होता है। ये बैंक अपने देश के व्यापारियो को भारतीय व्यापारियो के मुकाबले मे अधिक सुविधाएँ देते है जिससे भारतीय व्यापार अपेक्षाकृत कम लाभ का हो पाता है। कई विदेशी विनिमय बैंक अपने देश के व्यापारियो

को भारत मे अपना माल भेजते समय कम ब्याज पर अधिक समय के भुगतान की सुविधा देते है, परन्तु ये ही बैंक भारतीय व्यापारियो को यही सुविधा नही देते। विदेशी विनिमय बैंक अपने देश के व्यापारियो को समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार सम्बन्धी सूचनाएँ देते रहते है परन्तु ये सुविधाएँ भारतीय व्यापारियो को प्राप्त नही होती। विदेशी विनिमय बैंक माल के इन्श्योरेन्स तथा जहाजो द्वारा उसके भेजने की व्यवस्था अपने ही देश की कम्पनियो को देते है। ये बैंक आयात-निर्यात व्यापार भारतीय व्यापारियो के मुकाबले मे विदेशी व्यापारियो को देने मे बहुत सहायता करते है। आयात-निर्यात विनिमय-बिल का चिट्ठा स्टर्लिग अथवा डालर मे चलने के कारण ये बैंक उसकी कटौती व भुगतान विदेशी मुद्रा-बाजार मे ही करते है, जिससे भारतीय मुद्रा-बाजार को अन्तर्राष्ट्रीय विकास का प्रोत्साहन नही मिलता। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे विदेशी हुण्डी बहुत समय से प्रचलित रही है। यह हुण्डी बिना किसी शर्त के एक लिखित आज्ञा-पत्र होता है जो एक व्यक्ति दूसरे को किसी निश्चित समय के बाद उसकी आज्ञानुसार निश्चित राशि चुका देने की आज्ञा देता है। इसका ढग इस प्रकार होता है—

साठ (६०) दिन के बाद विलियम जेम्स अथवा उनकी आज्ञानुसार दूसरे व्यक्ति को पचास डालर दे दे। मूल्य प्राप्त किया जा चुका है।

५० डालर २ ए० सी० किग

सेवा मे, डी० सी० बेकर,
लन्दन

इस उदाहरण मे ए० सी० किग इस हुण्डी का लिखने वाला है। वह डी० सी० बेकर के नाम लिखता है कि विलियम जेम्स, जो धन प्राप्त करने का अधिकारी है, साठ दिन बाद पचास डालर उसको या उसके द्वारा बतलाये गये किसी अन्य व्यक्ति को दे दिये जायँ। विदेशी हुण्डियो के भुगतान मे समय का बडा महत्व होता है। ऊपर लिखित हुण्डी मे भुगतान करने

वाले को इस कार्य के लिए साठ दिन का समय दिया गया है ताकि वह इस अवधि मे इस धन की व्यवस्था कर ले। यदि प्राप्तिकर्त्ता को धन की शीघ्र आवश्यकता होती है तो वह यह हुण्डी किसी बैंक या दलाल को कटौती पर बेचकर जल्दी रुपया प्राप्त कर सकता है। विदेशी विनिमय बैंक अपने धन का अधिक भाग हुण्डियो को खरीदने और बेचने मे लगाते है। ये हुण्डियॉ तीन प्रकार की होती है—

(१) स्वीकृति पत्र,
(२) भुगतान पत्र,
(३) माल प्राप्त करने के पत्र।

ये हुण्डियॉ प्राय उन व्यापारियो के नाम लिखी जाती है जो आयात-निर्यात काय करते है। माल प्राप्त करने के पत्र आजकल बहुत कम प्रयोग मे आते है। इनके अनुसार माल प्राप्त करने पर तथा उस की जॉच के बाद भुगतान किया जाता है। सामान्यत हुण्डियो का भुगतान मूल्य की राशि मे नही होता। जब किसी देश का व्यापारी दूसरे देश के व्यापारी से माल मॅगाता है तो वह उसका भुगतान सामान्यत उस देश को अपने देश से भेजे हुए माल के मूल्य द्वारा पारस्परिक विनिमय से करता है और वष के अन्त मे जो राशि बचती है वह उस देश के व्यापारी के नाम कर दी जाती है।

एक देश का दूसरे देश की मुद्रा मे भुगतान विनिमय दर द्वारा निश्चित होता है। प्राचीन काल मे जब शुद्ध सोने या चाँदी के सिक्के चलते थे तब एक देश की मुद्रा द्वारा दूसरे देश की मुद्रा की विनिमय दर आसानी से निश्चित हो जाती थी। परन्तु आजकल ये भुगतान इस प्रकार होते है—

(१) सोना बाहर भेजकर,
(२) विदेशी मुद्रा मे बैंक-पत्र द्वारा,
(३) विदेशो मे चुकायी जाने वाली सूद की राशि द्वारा और निश्चित विनिमय दर द्वारा।

सामान्यत किन्ही दो देशो की मुद्राओ की विनिमय दर इस बात पर आधारित होती है कि उनकी मुद्राओ द्वारा कितना सोना प्राप्त किया जा

सकता है। यदि भारत का रुपया अमेरिका के डालर के अनुपात मे उसके १।५ भाग का सोना प्राप्त कर सकता है तो भारत के पॉच रुपये अमेरिका के एक डालर के बराबर माने जायँगे। विनिमय की यह दर किसी देश की मुद्रा की मॉग पर भी निर्भर होती है। यदि किसी समय सभी देशो मे अमेरिका के डालर की मॉग बढ जाय तो यह विनिमय दर भी उसी अनुपात मे बदल जाती है।

मुद्रा की क्रय-शक्ति कई बातो पर निर्भर होती है। कई वस्तुओ की क्रय-शक्ति के सूचक अक का औसत ही मुद्रा की क्रय-शक्ति मानी जाती है। मुद्रा की यह क्रय-शक्ति लगभग प्रति वर्ष ऑकी जाती है और इस क्रय-शक्ति के घटने-बढने का सतुलन विदेशी मुद्रा के अनुपात मे किया जाता है। इस प्रकार क्रय-शक्ति का सिद्धान्त एक काल्पनिक व्यवस्था है जो लम्बी अवधि मे निर्धारित होती है और इससे हम यह मान लेते है कि अन्य वस्तुएँ अपरिवर्त्तित रहे। परन्तु सामान्यत विनिमय की दर और मुद्रा की क्रय-शक्ति व्यापार की गति-विधि से भी बदल जाती है। बहुधा यह देखा जाता है कि दो देशो के व्यापारी गैरसरकारी विनिमय दर के द्वारा अपना लेन-देन करते है।

विनिमय दर पर अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनो प्रभाव पडते है। अल्पकालीन प्रभाव हुण्डियो की मॉग और पूर्ति पर निर्भर होते है। आयात की अपेक्षा अधिक निर्यात करने वाले की मुद्रा की क्रय-शक्ति ऊँची मानी जाती है। अत विदेशी हुण्डियो के बाजार का किसी देश की मुद्रा के विनिमय पर तुरन्त प्रभाव पडता है। देश की घटती या बढती आर्थिक परिस्थितियॉ भी उस देश की मुद्रा के विनिमय पर प्रभाव डालती है। यदि अ देश ब देश को बडी मात्रा मे पूँजी का निर्यात करे तो ब देश की मुद्रा की दर ऊँची हो जायगी। इस प्रकार जब कोई देश विनिमय योग्य विदेशी प्रतिभूतियो को मोल ले अथवा अन्य देश वाले हमारी प्रतिभूतियॉ मोल ले तो विनिमय दर पर प्रभाव पडता है।

किसी देश की राजनीतिक और औद्योगिक अवस्थाओ का भी प्रभाव मुद्रा के विनिमय प्रर पडता है। देश की आर्थिक स्थिति ।राष्ट्रीय आय-

व्यय से मालूम हो जाती है। यदि किसी देश का वार्षिक बजट लाभप्रद होता है तो उस देश की मुद्रा की धाक विश्व भर मे मानी जाती है। विनिमय क्षेत्र मे सट्टा करने वाले व्यक्ति ऐसे देश की चलार्थ मुद्रा (सरकुलेटिग मनी) प्राय ऊँचे मूल्यो मे खरीदते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे ऐसी मुद्रा का सभी देश सम्मान करते है। इसके विपरीत यदि किसी देश मे चलार्थ मुद्रा उसके व्यापार के अनुपात मे अधिक बढ जाती है तो उस देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाती है और मूल्य ऊँचे हो जाते है। इसका निर्यात-व्यापार पर विपरीत प्रभाव पडता है। इस मुद्रा की अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दर गिर जाती है तथा निर्यात कम हो जाता है और आयात बढ जाता है ऐसी परिस्थिति मे देश का सोना बाहर जाने लगता है और साख कम हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान निम्नलिखित लेन-देन से होता है।

(१) वस्तुओ के आयात-निर्यात से,—वस्तुओ का यह आयात-निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय बैंको द्वारा होता है। आयात-निर्यात की मात्रा देश की आर्थिक परिस्थिति पर निर्भर होती है।

(२) सेवाओ के मूल्य से—ये सेवाएँ एक देश दूसरे देश के लिए कई ढगो से करता है, जैसे बैंकिंग सेवाएँ जहाजो द्वारा माल ले जाने की सेवाएँ, भेजे गये माल के इन्श्योरेन्स की सेवाएँ तथा विदेश मे व्यक्तियो द्वारा काम करने की सेवाएँ। इन सभी प्रकार की सेवाओ का मूल्य भी अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय द्वारा होता है। इनके अतिरिक्त पर्यटन और शिक्षा प्राप्त करने का व्यय भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का भाग है। राष्ट्र द्वारा गृहीत अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन विदेशी ऋण तथा उसका ब्याज और व्यापार मे लगी हुई विदेशी पूँजी तथा उसका ब्याज, ये सभी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान माने जाते है।

देश की आर्थिक व्यवस्था को ठीक बनाये रखने के लिए विदेशी विनिमय का सतुलन बहुत आवश्यक होता है। विदेशी विनिमय की दर आर्थिक परिस्थिति पर ही निर्भर होती है। अत देश का केन्द्रीय बैंक अपनी साख-मुद्रा-नीति द्वारा आर्थिक परिस्थितियो को स्थिर बनाये रखता

है। ब्याज की दर द्वारा भी पूँजी का नियत्रण होता है। कुछ देश अपनी मद्रा का मूल्य किसी ऐसे देश की मुद्रा के अनुपात मे स्थिर रखते है, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे आर्थिक महत्व अधिक हो। जैसे भारतवर्ष अपनी मुद्रा की स्टर्लिग मे विनिमय-दर सन् १९३१ से अब तक १ शिलिग ६ पेन्स किये हुए है। विदेशी विनिमय का नियत्रण और स्थिरता देश का निर्यात व्यापार बढाने मे बहुत सहायक होते है। कभी-कभी निर्यात व्यापार को बढाने के लिए मुद्रा की विनिमय-दर कम कर दी जाती है। विशष रूप से उस देश की मुद्रा के अनुपात मे यह विनिमय-दर कम होती है। जैसे १९४९ मे अमेरिका से निर्यात व्यापार बढाने के लिए भारत ने डालर के अनुपात मे अपनी मुद्रा की विनिमय दर घटा दी थी।

कभी-कभी विनिमय पर नियत्रण देश से पूँजी बाहर जाने को रोकने के लिए भी किया जाता है। देशवासियो द्वारा दूसरे देश मे सम्पत्ति अथवा सिक्यूरिटियाँ तथा दूसरे देशो के बैंक मे राशि जमा करने पर नियत्रण रखा जाता है और बहुत कम परिमाण मे सरकार इसकी अनुमति देती है। सन् १९२९ की आर्थिक मन्दी के बाद जर्मनी ने अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए और निर्यात बढाने के लिए अपने देश की पूँजी बाहर जाने से रोक दी थी और अपने देश मे लगी विदेशी पूँजी को स्वायत्त करने के लिए विदेशी पावने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था और आयात-निर्यात के लिए आदान-प्रदान की प्रथा का प्रयोग किया था। ऐसे नियत्रण द्वारा देश का सोना बाहर कम जा पाता है और आर्थिक सकट के समय किसी देश की अवस्था का पूरा-पूरा ज्ञान अन्य देश को नही हो पाता।

देश का सोना बाहर जाने से रोकने के लिए वहाँ विनिमय-नियत्रण के कई ढग अपनाये गये। इनमे सबसे अधिक नियत्रण आयात पर किया गया। हर उपाय से आयात कम किया जाने लगा और निर्यात बढाने के ढग अपनाये गये। वस्तुओ को निर्यात करने की सुविधाएँ सरकारी सहयोग और आर्थिक सहायता द्वारा दी गयी। कभी-कभी करो की छूट भी दे दी गयी। इसके विपरीत आयात को निश्चित करने के लिए वस्तुओ की कोटा प्रणाली अपनायी गयी। इसके अतिरिक्त सरकार ने केन्द्रीय बैंक द्वारा

विदेशी मुद्रा का क्रय और विक्रय अपने हाथ मे ले लिया। हुण्डियो का खुले बाजार मे व्यवसाय केन्द्रीय बैंक की सरक्षकता मे होने लगा। इसके अतिरिक्त आयात-निर्यात के वस्तु-विनिमय के द्विदेशीय समझौते होने लगे तथा भुगतान मे विनिमय समीकरण फन्ड की स्थापना की गयी। द्विदेशीय व्यापारी समझौते भारत के लिए बहुत सफल सिद्ध हुए। द्वितीय महायुद्ध के पहले भारत ने अपनी आर्थिक स्थिति सँभालने के लिए इस प्रकार के कई समझौते किये।

भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् भारतीय बैंको ने विदेशो मे अपनी शाखाएँ खोलना प्रारम्भ किया। परन्तु इनकी पूँजी बहुत थोडी होने के कारण ये बडी मात्रा मे व्यापार को सहायता न दे सके। भारतीय बैंको की विदेशो मे लगभग १०० शाखाएँ है जिनकी कुल पूजी ६५ करोड रुपये है। किसी देश के दूसरे देश से व्यापार को आर्थिक सहायता देने मे विनिमय बैंको का सहयोग तथा इन्श्योरेन्स कम्पनियो और जहाजो द्वारा माल बाहर ले जाने वाली कम्पनियो का भी सहयोग आवश्यक होता है। अत विदेशी विनिमय बैंक इन कम्पनियो को भी आर्थिक सहायता देते है। परन्तु भारतीय बैंको का सहयोग अभी इन कम्पनियो से बहुत कम है। विदेशी विनिमय बैंको के भारत मे बैंकिग कार्य को कम करने के लिए समाशोधन-गृह की व्यवस्था की गयी है। सन् १९४९ के भारतीय बैंकिंग विधान के अनुसार विदेशी बैंको के देश के भीतर काम करने पर कई नियत्रण लगा दिये गये हैं तथा इनके लिए रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया है।

अध्याय ८

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और बैंकिंग संस्थाएँ

विदेशी व्यापार आर्थिक उन्नति का एक मुख्य अग माना जाता है। प्राचीन काल से ही समृद्ध देश अपने यहाँ की वस्तुएँ विदेशो मे बेचकर धनोपार्जन करते रहे हैं। उस समय विदेशी व्यापार सभ्यता और समृद्धि का प्रतीक माना जाता था पर आधुनिक ढग के उत्पादन के साधन न होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा बहुत सीमित रहती थी और देश की आर्थिक अवस्था पर उसका विशेष प्रभाव नही पडता था। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त विदेशी व्यापार का महत्व बहुत बढ गया और वह आर्थिक उन्नति का बहुत बडा साधन माना जाने लगा। बडी मात्रा मे कच्चा माल तथा तैयार की हुई वस्तुएँ एक देश से दूसरे देश जाने लगी, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की समस्याएँ उत्पन्न होने लगी।

प्रथम और द्वितीय महायुद्धो के समय भारत मे उद्योगीकरण बहुत तेजी से हुआ। द्वितीय महायुद्ध काल मे भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत बढ गया और कच्चा माल तथा तैयार किया हुआ सामान भारत से विभिन्न देशो को जाने लगा। द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने पर यूरोप के देशो मे पुनर्निर्माण की समस्या आयी, क्योकि इस युद्ध मे लगभग सभी देशो का आर्थिक ढाँचा जर्जर हो गया था और बिना तीव्र उद्योगीकरण के आर्थिक विषमता मिटना कठिन था। अत बडी मात्रा मे उत्पादन तथा भुगतान के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता बढ गयी। उद्योगो के विकास के लिए कुछ देशो को अन्य देशो पर कच्चे माल या बने हुए सामान के लिए निर्भर होना पडा। अत बडी मात्रा मे एक देश से दूसरे देश को माल भेजने की व्यवस्था आवश्यक हो गयी।

स्वतन्त्रता के बाद भारतवर्ष ने आर्थिक नियोजन की नीति अपनायी और उद्योगीकरण के लिए कई अन्य देशो से मशीने तथा अन्य सामान

बडी मात्रा मे मॅगाने की व्यवस्था की, जिसके लिए भुगतान की समस्या का सामना करना पडा। युद्ध-काल मे भारत द्वारा कई देशो को बना हुआ सामान भेजा गया था जिससे इग्लैन्ड, कनाडा तथा मध्य पूर्व के देशो पर भारत का ऋण हो गया। इन देशो से यह ऋण किस प्रकार वापस लिया जाय, यह भी समस्या बन गयी थी। इन सभी प्रकार के भुगतानो के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और मौद्रिक सस्थाएँ बडी सहायक हुईं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढाने के लिए ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना १९४४ मे ब्रेटेन वुड्स की कान्फ्रेन्स मे की गयी थी। भिन्न-भिन्न देशो मे उनकी प्रचलित मुद्राओ का समन्वय करना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए बहुत आवश्यक था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् देशो के पुनरुत्थान तथा उनका आर्थिक सकट कम करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत हितकर माना गया। कई देशो के लिए मुद्रा को स्वर्ण-प्रमाप पर लाना असम्भव हो गया। अत अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए उन्हे बडी कठिनाई होने लगी। इन परिस्थितियो मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग बहुत कठिन हो गया। इन कठिनाइया को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सगठन किया गया। इस कोष के निम्न-लिखित कार्य है—

(१) जो देश इस कोष के सदस्य होगे उनमे उनकी मुद्राओ की पारस्परिक विनिमय दर स्थापित करना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे सहायता देना और किसी सदस्य देश द्वारा लगाये गये विनिमय नियत्रणो को दूर करने का प्रयत्न करना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वृद्धि हो।

(३) सदस्य देशो की भुगतान सम्बन्धी कठिनाइयो को दूर करने के लिए विदेशी मुद्राओ को उन देशो के लिए उपलब्ध करना।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढाने के लिए सदस्य देशो को उत्पादन के साधनो के लिए कोष से सहायता देना।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढाने के लिए मौद्रिक एकता स्थापित करना जिससे वस्तुओ का मूल्य निर्धारित करने मे कठिनाई न हो।

यह कोष केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए ही स्थापित किया गया है। कोष की पूँजी का उपयोग कोई भी सदस्य देश राजनीतिक अथवा देश की आन्तरिक आर्थिक उन्नति के लिए प्रयोग मे नही ला सकता। युद्ध-कालीन ऋणो के भुगतान और आर्थिक पुनर्निर्माण मे यह कोष विशेष रूप से सहायक रहा है। इस कोष की स्थापना मे जिन ४४ देशो ने भाग लिया था वे इसके मौलिक सदस्य माने गये और १ मार्च १९४६ से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस कोष को बडी सफलता मिली और १९५८ तक इसके सदस्य राष्ट्रो की सख्या ६८ हो गयी।

इस कोष मे प्रत्येक सदस्य देश अपनी आर्थिक योग्यता के अनुसार कुछ निर्धारित राशि जमा करता है जिसे उस देश का कोटा कहते है। इस कोष की मुद्रा डालर के रूप मे आकी जाती है। भारत का कोटा ४० करोड डालर, अमेरिका का कोटा २ अरब ७५ करोड डालर, इग्लेन्ड का कोटा १ अरब ३० करोड डालर, फ्रान्स का कोटा ४५ करोड डालर है। अन्य सभी देशो के कोटे कम ही होते गये है। प्रत्येक सदस्य देश अपने कोटे का १० प्रतिशत स्वर्ण के रूप मे कोष मे जमा कर देता है और शेष भाग अपनी मुद्रा की प्रतिभूतियो के रूप मे जमा करता है। सामान्यत प्रत्येक सदस्य देश किसी एक वर्ष मे अपने निर्धारित कोटे की राशि का ही व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा कर सकता है।

कुछ वर्षो पश्चात् यह देखा गया कि कई सदस्य देशो को अपना व्यापार निर्धारित कोटे तक सीमित रखना कठिन हो रहा है इसलिए उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से इसमे वृद्धि करने की अनुमति माँगी। अत १९५८ मे कोष के सचालको ने निश्चय किया कि सभी सदस्य देशो के कोटे मे ५० प्रतिशत वृद्धि कर दी जाय ताकि वे अपने व्यापार का अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार कर सकें। कोष की कुल जमा पूँजी १ अरब ४४ करोड १० लाख डालर के मूल्य का सोना है। सभी सदस्य देशो की मुद्राओ के सम मूल्य निर्धारित कर दिये गये है जो अमेरिका के डालर के अनुपात मे है। जब कोई सदस्य देश इस कोष मे से विदेशी मुद्रा खरीदता या बेचता है तो

उसका मूल्य इन्ही सम मूल्यो के हिसाब से चकाया जाता है। भुगतान की कठिनाइयो को कम करने के लिए इस मुद्रा-कोष ने तीन ढग अपनाये है--

(१) सभी सदस्य देशो के मनोनीत सचालको का समय-समय पर सम्मेलन करना, जिसमे विनिमय सम्बन्धी सभी कठिनाइयो पर विचार विमर्श किया जाय।

(२) सदस्य देशो की वित्तीय अथवा मौद्रिक जाँच पडताल विशेषज्ञो द्वारा कराना।

(३) सदस्य देशो को अल्पकालीन भुगतान की विशेष सुविधा प्रदान करना। इसके लिए विदेशी मुद्राओ को प्राप्त करने की सुविधा यह कोष सदस्य देशो को उपलब्ध करता है।

यदि किसी सदस्य देश की मुद्रा की बहुत कमी हो जाय अथवा मुद्रा की माँग बहुत बढ जाय तो उस मुद्रा को यह कोष दुलभ मुद्रा घोषित कर देता है और सभी सदस्य देशो को उसके कारणसहित सूचना दे देता है। ऐसी परिस्थिति मे उस देश की मुद्रा को प्राप्त करने के लिए कई नियत्रण लगा दिये जाते है, परन्तु आवश्यक कार्यो के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष सोने के बदले मे दुर्लभ मुद्रा खरीद लेता है अथवा उधार ले लेता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का प्रबन्ध गवर्नरो के बोर्ड द्वारा होता है जिसमे प्रत्येक सदस्य देश का प्रतिनिधि गवर्नर होता है। यह बोर्ड एक सचालक समिति तथा एक प्रबन्ध-सचालक नियुक्त करता है। सचालक समिति के १२ सदस्य होते है जिनमे ५ स्थान उन देशो के प्रतिनिधियो के लिए निश्चित होते है जिनका कोटा सबसे अधिक होता है। कोष का प्रधान कार्यालय वाशिगटन मे है।

लगभग १२ वर्षो के कार्य-कलाप मे इस कोष ने २ मिलियन डालर के मूल्य की विदेशी मुद्राओ का आदान-प्रदान किया था। आरम्भ मे लगभग ५ वर्षो तक कोष का कार्य बहुत कम रहा क्योकि युद्ध के तुरन्त पश्चात् भुगतान मे कई विषमताएँ आ गयी थी। कोरिया युद्ध तथा स्वेज

नहर के 'सकट' से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान तेजी से बढा और कोष के द्वारा मुद्राओ का क्रय-विक्रय भी बढता गया।

इस कोष मे रूस के सम्मिलित न होने से भारत का पाँचवाँ स्थान हो गया। इसका कोटा चार अन्य देशो को छोडकर सबसे अधिक है। भुगतान के हिसाब से भारत इस कोष मे तीसरा बडा ग्राहक है। विदेशी मुद्राओ के भुगतान के लिए भारत ने इस कोष से सबसे पहले १९४८ मे ६ करोड ८३ लाख डालर की और उसके एक वर्ष बाद ३ करोड १७ लाख डालर को सहायता ली थी। धीरे-धीरे भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढने पर उस ने यह सभी राशि चुकता कर दी और इस कोष मे भारतीय मुद्रा का प्रभाव बढने लगा। इस कोष के मौलिक सदस्य होने के नाते भी भारत का हाथ नीति निर्धारित करने मे तथा उसकी कार्य प्रणाली मे काफी रहा है।

यह मुद्रा-कोष एक प्रकार का चक्रीय कोष भी माना जाता है जिसमे सदस्य देश अपनी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा लेते है और बाद मे विदेशी मुद्रा के बदले मे पुन अपनी मुद्रा ले लेते है। इस प्रकार विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय सोने के अनुपात मे होता तो अवश्य है परन्तु सोने के आदान-प्रदान की आवश्यकता नही होती और इस अन्तर्राष्ट्रीय कोष मे सदस्य देशो की मुद्राओ का उनके खातो द्वारा समाशोधन कर लिया जाता है। इस कोष ने आर्थिक उन्नति तथा पुनर्निर्माण मे बडी सहायता की है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक

द्वितीय महायुद्ध की हानियो के कारण विश्व के अधिकाश देशो ने यह विचार किया कि युद्ध मे हुई क्षति की पूर्ति सभी देशो के सहयोग से पूरी की जा सकती है। अपने पुर्ननिर्माण तथा विकास की सभी देशो ने आवश्यकता समझी तथा उन्होने यह भी अनुभव किया कि कोई व्यक्तिगत सस्था उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकती है। अत १९४४ मे ब्रेटेन वुड्स मे सभी देशो की एक बैठक हुई और अन्तर्राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण तथा विकास बैंक की स्थापना के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हुआ। इस समझौते के तीन मुख्य उद्देश्य थे--(पहला)

दीर्घ-कालीन पूँजी को एक देश से दूसरे देश को गतिशील बनाना। (दूसरा) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उन्नति करना, (तीसरा) भुगतान के सतुलन की समानता रखना। इसके अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रो की आर्थिक उन्नति एव अन्य देशो द्वारा दिये गये ऋण की जमानत करना। सक्षेप मे बैंक का मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रो की आर्थिक सहायता करना है। कभी-कभी यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तिगत ऋणो की गारटी लेकर उन्हे प्रोत्साहन देता है और यदि ऐसे ऋण उपलब्ध न हो तो स्वय उत्पादन कार्यो के लिए ऋण प्रदान करता है। इससे सदस्य देशो की उत्पादक शक्ति, जीवन-स्तर तथा श्रमिको की कार्य-दशा मे उन्नति हो सकती है। बैंक का एक उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगो को उचित सुविधाएँ प्रदान करके प्रोत्साहन देना भी है जिससे इनका व्यापारिक स्थिति पर ठीक प्रभाव पडे। यह बैंक केवल उत्पादन कार्यो के लिए ऋण दे सकता है। बैंक से ऋण लेकर सदस्य किसी भी देश मे वस्तु क्रय करने के लिए स्वतन्त्र होता है। उस पर ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकता कि वह किसी खास देश मे धन व्यय न करे।

बैंक की पूँजी

बैंक की अधिकृत पूँजी १,००० करोड डालर है जिसको एक-एक लाख डालर के हिस्सो मे बाँटा गया है। प्रत्येक देश को अपने चन्दे का २० प्रतिशत सदस्यता ग्रहण करते समय ही देना पडता है और शेष २० प्रतिशत बैंक आवश्यकता के समय अपने सदस्य से लेता है। प्रत्येक सदस्य को अपने अभ्यश का २ प्रतिशत सोने मे और १८ प्रतिशत अपनी मुद्रा मे देना होता है। सदस्यो के इस अभ्यश मे तीन चौथाई बहुमत से वृद्धि की जा सकती है और इस बढी हुई राशि को सदस्य या तो सोने मे, या डालर मे, या बैंक द्वारा बतायी गयी किसी मुद्रा मे चुका सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने प्रत्येक देश से उसके भाग की केवल २० प्रतिशत रकम ही प्राप्त की है। यही अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की कार्यशील पूँजी है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ऋण की गारटी देने अथवा सीधा ऋण देने के अतिरिक्त

आवश्यकता पडने पर किसी सदस्य देश के बाजार मे अपनी प्रतिभूति बेच-कर धन प्राप्त कर सकता है तथा उस धन को ऋणस्वरूप अन्य देश को दे सकता है ।

इसको भारतवर्ष ने ४० करोड डालर पूँजी क्रय करने का वचन दिया है जिसमे से कुछ डालर मे, कुछ भारतीय रुपये मे तथा कुछ ब्याज रहित अविनिमय साध्य मॉग-पत्रो मे लगायी गयी है।

बैंक का सचालन एव प्रबन्ध

इस बैंक का सचालन एक गवर्नर-मण्डल, कार्यकारिणी समिति और सभापति द्वारा होता है। बैंक का प्रमुख सचालक गवर्नर-मण्डल होता है जिसमे प्रत्येक सदस्य देश अपना एक-एक प्रतिनिधि भेजता है। बैंक की कार्यकारिणी समिति मे १२ सदस्य होते हैं, जिनमे से ७ सदस्य मुद्रा-कोष की तरह प्रतिनिधि-निर्वाचन प्रणाली द्वारा निर्वाचित किये जाते है। प्रतिनिधि-निर्वाचन-प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य देश २५० मत तथा एक लाख डालर चन्दे के पीछे एक और मत प्राप्त कर सकता है। सभापति की नियुक्ति कार्यकारिणी समिति द्वारा होती है। कार्य-कारिणी समिति की अवधि दो वर्ष होती है। इसके अतिरिक्त गवर्नर-मण्डल समय-समय पर बैंक को सलाह देने के लिए एक सलाहकार समिति की नियुक्ति करता है, जिसमे कम-से-कम ७ सदस्य हो सकते हैं। इस समिति का मुख्य कार्य सामान्य नीति का निर्माण करते समय बैंक को सलाह देना होता है। ऋण सम्बन्धी आवेदन पत्रो की जॉच-पडताल एक विशेष समिति द्वारा की जाती है, जिसकी नियुक्ति कार्यकारिणी समिति करती है।

बैंक की कार्यविधि

बैंक सदस्य देशो को उनके विकास एव पुनर्निर्माण के लिए ऋण प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त बैंक व्यक्तिगत विनियोग-कर्त्ताओ से भी ऋण दिलाता है और उसकी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है। बैंक अपना व्यवसाय केवल सदस्य देशो की सरकारो द्वारा करता है। बैंक के ऋणो की मात्रा सदस्यो के चन्दे पर निर्भर नही रहती। चन्दे का

महत्व केवल शासन से सम्बन्ध रखता है। बैंक का कभी यह ध्येय नही रहता है कि वह ऋण के विनियोग के लिए देशो से प्रतिस्पर्धा करे बल्कि तटस्थ रूप से वह सब देशो की मदद ही करता है और स्वय तभी ऋण देता है जब व्यक्तिगत ऋण नही मिलते है। बैंक अपने ऋणो पर ब्याज प्राप्त करने के अतिरिक्त देशो के व्यक्तिगत ऋणो की जिम्मेदारी लेने पर भी कमीशन लेता है। यह कमीशन एक अलग कोष मे जमा होता है तथा किसी सदस्य देश द्वारा ऋण का भुगतान न करने पर इसका उपयोग किया जाता है। बैंक ऋण प्रदान करते समय या व्यक्तिगत ऋणो की जिम्मेदारी लेते समय पूर्ण रूप से यह निश्चय कर लेता है कि ऋणी देश की माँग उचित है या नही और ऋणदाता देश की शर्तें न्यायपूर्ण है या नही। बैंक निम्न शर्तो पर ऋण प्रदान करता है।

(१) बैंक तभी ऋण देता है जब कि सलाहकार समिति ऋण माँगने वाले देश की आर्थिक दशा व उसके उद्देश्य की पूर्ण रूप से जाँच कर लेती है।

(२) ऋण माँगने वाली सरकार जब तक जमानत नही देती, यह बैंक ऋण नहीं दे सकता है।

(३) यदि बैंक ऋण-दाता देश के ब्याज की दर और शर्तो से सन्तुष्ट है और ऋण वापस करने के नियम उचित है तभी वह ऋण प्रदान करता है।

(४) ऋण देते समय बैंक यह भी ध्यान मे रखता है कि सदस्य देश मे उस ऋण को चुकाने की क्षमता है या नही।

(५) ऋण लेने वाला देश जिस योजना के लिए ऋण लेना चाहता है यह बैंक उस योजना की विशेषज्ञो से जाँच कराता है तथा उसकी उपयोगिता के बारे मे सतुष्ट होने पर ही ऋण देता है।

(६) बैंक बराबर यह देखा करता है कि जिस उद्देश्य के लिए ऋण दिया गया है वह पूरा हो रहा है कि नही। आवश्यकता पडने पर प्राविधिक सहायता व परामर्श भी बैंक देता है।

(७) किसी भी समय बैंक अपनी कुल पूंजी व सचित कोष से अधिक ऋण नही दे सकता है।

(८) ऋणी देश दाता देश द्वारा वस्तुओ के रूप मे ऋण चुकाने के लिए मजबूर नही किया जा सकता है।

(९) दिये गये ऋणो की जोखिम सदस्य देशो को उनके हिस्सो के अनुपात मे सहन करनी होगी।

(१०) बैक केवल विकास तथा पुर्ननिर्माण के लिए ऋण देता है परन्तु असाधारण परिस्थितियो मे यह शर्त कुछ ढीली की जा सकती है।

(११) जिम्मेदारी लेते समय बैक ऋणी, दाता और अन्य देशो के हितो का भी ध्यान रखता है।

बैंक की आलोचना

कुछ देशो के अनुसार बैक ऋणी देशो का पक्ष करता है और इसलिए उसके सदस्यो मे ऋण-दाता देशो की अपेक्षा ऋणी देश अधिक है तथा यह आशका की जाती है कि इस पर ऋणी देशो का नियत्रण हो सकता है। परन्तु यह आलोचना न्यायपूर्ण नही है क्योकि ऋण प्रदान करने की योजना सदस्यो की व्यक्तिगत एव सयुक्त जिम्मेदारी पर आधारित है। यह सच है कि ऋण-दाता देश कम है, फिर भी उनके ऋणो की जोखिम सभी सदस्यो पर रहती है।

कुछ लोगो का कहना है कि बैक की अपेक्षा ऋण प्रदान करने का कार्य और पिछड़े हुए देशो मे पूँजी के विनियोग करने का कार्य व्यक्तिगत देशो द्वारा अच्छी प्रकार से किया जा सकता है। पर यह कहना भी उचित नही है, क्योकि बैंक व्यक्तिगत देशो के बीच किसी प्रकार से भी कठिनाई उत्पन्न नही करता और न प्रतियोगिता ही करता है। जैसे ही इस बैंक की १९४४ मे स्थापना हुई, डालर ऋण के लिए देशो से आवेदन-पत्र आये तथा सन् १९४७ मे जाकर कही बैंक ने पहला ऋण दिया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को ऋण देने के लिए अमेरिका के द्रव्य-बाजार मे ऋण लेना होगा।

ब्रेटेन वुड्स सम्मेलन मे लोगो का यह विचार था कि प्रत्येक देश जो डालर ऋण लेना चाहेगा, अपने बाड अमेरिका मे बेचेगा और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उनकी अदायगी की गारटी देगा। लोगो का विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की गारटी अमेरिकन पूँजीपतियो को उन देशो के बाडो मे अपना धन लगाने के लिए प्रोत्साहित करेगी। परन्तु बैंक ने द्रव्य-बाजार की अव्यवस्थित दशा के कारण अन्य देशो के बाडो की गारटी न देते हुए स्वय अपने बाड सयुक्त-राज्य अमेरिका के द्रव्य-बाजार मे बेचकर धन प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया।

बैंक की १९५० मे समाप्त होने वाली वार्षिक रिपोर्ट से पता चलता है कि मार्च १९५० मे इस ने रिज़र्व बैंको और बैंक-फार-इन्टरनेशनल सेटिलमेट को भी अपने बाड बेचे। लन्दन के बाजार मे भी इस बैंक ने ब्रिटिश प्रतिभूतियाँ बेची।

बैंक ने ३१ मार्च १९५८ तक कुल मिलाकर २ अरब १२ करोड ७० लाख डालर का ऋण देना स्वीकार किया जिसमे से २ अरब से अधिक वास्तव मे दे दिया गया था। इसमे से ५२ करोड ६० लाख डालर के ऋण का भुगतान वापस मिल गया है तथा कुछ व्यक्तिगत विनियोग-दाताओ ने बैंक से क्रय कर लिया है। कुल ऋण मे से १ अरब ८१ करोड ३५ लाख डालर का ऋण डालर मे दिया गया है। अधिकाश ऋण फ्रास, नीदरलैड, डेनमार्क, लक्जमबर्ग, बेलजियम, फिनलैड, टर्की युगोस्लाविया, चिली, मैक्सिको, ब्राजिल, कोलम्बिया, इराक, पाकिस्तान, भारत को दिये गये है।

भारत और विश्व बैंक

भारत ने विश्व बैंक से बहुत अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त की है। आर्थिक विकास के लिए भारत को पहला ऋण ४ प्रतिशत ब्याज की दर पर ३४ मिलियन डालर का प्राप्त हुआ, जिसकी अवधि १९५०-५४ थी। यह ऋण रेलो के इजन खरीदने के लिए लिया गया था। दूसरा ऋण १० मिलियन डालर का ट्रैक्टर खरीदने के लिए सन् १९५२-५६ तक की अवधि के लिए ३ प्रतिशत ब्याज की दर पर लिया गया है। तीसरा

ऋण १८ ५ मिलियन डालर का ४ प्रतिशत ब्याज की दर पर बोकारो मे विद्युत् सयत्र के लिए लिया गया है। इसके अतिरिक्त १९५४-५५ मे भारत को दो ऋण और प्राप्त हुए। पहला ऋण टाटा कम्पनी द्वारा ट्राम्बे विद्युत् योजना के लिए १६२ लाख डालर का था और दूसरा १ करोड डालर का औद्योगिक साख व विनियोग कारपोरेशन के लिए था। भारत सरकार ने इन दोनो ऋणो के लिए जिम्मेदारी ली है क्योकि ये व्यक्तिगत सस्थाओ द्वारा लिये गये है। १९५६ मे ७ करोड ५० लाख डालर का एक ऋण १५ वर्ष की अवधि के लिए ३ प्रतिशत ब्याज की दर से टाटा आयरन एन्ड स्टील कम्पनी को प्राप्त हुआ।

सन् १९५६ मे बैंक ने अपने से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को बढावा देने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना की। इस की पूँजी ७ करोड ८० लाख डालर है जो ३१ सदस्य देशो द्वारा लगायी गयी है। इस निगम द्वारा दिये गये ऋण के लिए सरकार की जमानत की आवश्यकता नही है। यह आशा की जाती है कि यह निगम व्यक्तिगत पूँजी को भिन्न-भिन्न देशो के उत्पादक कार्यो मे लगाने के लिए प्रोत्साहन देगा। विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋणो मे सब से बडी कठिनाई यह है कि ऋण की सारी मात्रा उसी काम पर व्यय की जानी चाहिए जिसके लिए बैंक ने दी है। इस नियम का कठोरता से पालन होने के कारण भारत पूरे स्वीकृत ऋणो का प्रयोग नही कर सका है। अप्रैल सन् १९५६ मे विश्व बैंक का एक विशेषज्ञ दल भारत की प्रार्थना पर द्वितीय योजना की आवश्यकताओ व कार्यक्रमो का निरीक्षण करने आया था। इस दल ने अनुकूल रिपोर्ट प्रस्तुत की है। अत आशा है कि शीघ्र ही भारत को और ऋणो की स्वीकृति विश्व बैंक से प्राप्त हो सकेगी।

यद्यपि विश्व बैंक ने अधिकाश ऋण पाश्चात्य देशो को ही प्रदान किये हैं, फिर भी इसका कार्य सराहनीय है। भारत को इस बैंक से पर्याप्त सहायता प्राप्त हो रही है। आज भी भारत मे ऐसी कई योजनाएँ विचारा-धीन हैं, जिनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से आर्थिक सहायता प्राप्त होगी

तथा भविष्य मे भारत को और सहायता इस बैंक से मिलती रहेगी ऐसी आशा की जा सकती है, क्योकि परिस्थितियाँ अब अनुकूल हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम—उद्योगो के विकासार्थ बडी मात्रा मे वित्त की व्यवस्था करने के लिए यह अन्तर्राष्ट्रीय सस्था १९५६ मे विश्व बैंक की पूरक सस्था के रूप मे बनी। इस सस्था का उद्देश्य ससार के उन सभी उद्योगो के लिए पूँजी की व्यवस्था करना है जिन का निजी क्षेत्र मे निर्माण होता है और एक देश से दूसरे देश मे उनके बने हुए सामान भेजे जाते है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (कारपोरेशन) निम्न बातो मे विश्व बैंक से भिन्न है—

(१) यह एक विनियोगी सस्था है। यह निजी पूंजी तथा प्रबन्ध से मिलकर उत्पादन कार्यो मे केवल पूंजी का विनियोग करता है, जब कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक प्रधानत उधार देने का काम करता है।

(२) इस सस्था का कार्य-क्षेत्र केवल अर्ध-सिकसित देशो तक ही सीमित है, जैसे अमेरिका, एशिया, लैटिन अमेरिका और मध्य पूर्व के देश।

(३) यह सस्था केवल छोटी तथा मध्य श्रेणी की उन औद्योगिक सस्थाओ को वित्त की सहायता देती है, जिन्हे सरकार द्वारा न सरक्षण प्राप्त हो और न कोई विशेष सुविधा मिली हो।

(४) यह सस्था निजी उद्योगपतियो से सीधा लेन-देन करती है और उनके देश की सरकार किसी प्रकार से गारन्टी देकर या प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नही करती।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की वर्तमान पूँजी लगभग १० करोड डालर है। इसके सदस्य देशो की सख्या लगभग ६० है। यह निगम निजी क्षेत्र मे औद्योगिक विस्तार के लिए लगभग आधी पूजी तक ऋण देता है जिसकी अवधि ५ से १५ वर्षों तक की होती है। भारत मे कुछ देशी और विदेशी मिश्रित पूँजी से बनी औद्योगिक सस्थाओ ने इस निगम से १५ लाख डालर ऋण लिया है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही अन्य उद्योगो को भी इस निगम द्वारा वित्त-सहायता प्राप्त हो सकेगी।

आयात-निर्यात बैंक—बडी मात्रा मे विभिन्न देशो द्वारा किये गये आयात अथवा निर्यात के भुगतान के लिए इस बैंक की स्थापना हुई है। यह सस्था अमेरिका मे १९४५ मे एक कानून द्वारा इस उद्देश्य से स्थापित की गयी कि जिन देशो का आयात-निर्यात व्यापार अमेरिका से होता है उनके भुगतान की सुविधा यह बैंक कर सके। इसकी समस्त पूँजी जो लगभग १ अरब डालर है अमेरिका की सरकार द्वारा लगायी गयी है और इस बैंक को ६ अरब डालर तक का ऋण लेने का अधिकार है। अमेरिका की सरकार ने यह बैंक मुख्यत अमेरिका के आयात-निर्यात व्यापार को बढाने के लिए स्थापित किया था, क्योकि अर्ध-विकसित देशो मे पूँजी की कमी होने के कारण ये देश अमेरिका से माल बहुत कम मँगवा पाते थे। इस बैंक द्वारा अब अमेरिका का निर्यात व्यापार बहुत बढ गया और अर्ध-विकसित देशो को भी अमेरिका से आवश्यक माल मँगाने मे सुविधा मिल गयी है।

भारत को इस बैंक से प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो रूपो मे सहायता प्राप्त हुई है। विकास-ऋण फण्ड से लगभग ८ करोड डालर भारत को अपना निर्यात बढाने के लिए प्राप्त हुआ है। अमेरिका से आये हुए गेहूँ का भुगतान इसी आयात-निर्यात बैंक द्वारा होता है। औद्योगिक विकास तथा कृषि सम्बन्धी मशीनो का आयात यहाँ इसी आयात-निर्यात बैंक द्वारा होता है। इस बैंक के द्वारा भारत का आयात-निर्यात व्यापार काफी सुगम हो गया है, क्योकि भारत सरकार निजी उद्योगो के इस कार्य के लिए धन की व्यवस्था नही कर पाती।